जगजीवन राम

भारत में जातिवाद और हरिजन समस्या

भारत में जातिवाद और हरिजन समस्या

मूल्य : बीस रुपये (20.00)

प्रथम संस्करण 1981,
BHARAT MEIN JATIVAD AUR HARIJAN SAMASYA
by Jagjivan Ram

भारत में जातिवाद और हरिजन समस्या

जगजीवन राम

राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली
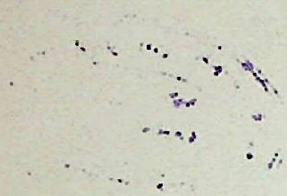
भूमिका

अनुसूचित जातियों की समस्या वर्तमान समय में भयंकर रूप से उलझ गई है। इनमें जो थोड़ी-बहुत जागृति आई है उसके परिणामस्वरूप वे झिझकते कदमों से उन अत्याचारों और अन्याय का विरोध करने की चेष्टा कर रहे हैं जो अत्यधिक लज्जाजनक ढंग से उनपर होते आए हैं। यह अत्याचार और दमन, जिसका शिकार ये अनुसूचित जातियां हुई हैं, ऐसा है कि सभ्य समाज में उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। दुःख इस बात का है कि इन अत्याचारों की संख्या और इनकी विकटता बढ़ती ही जा रही है। अजीब बात यह है कि भारतीय समाज इन अत्याचारों को न केवल सहन कर रहा है, बल्कि कुछ मामलों में अनदेखा भी कर रहा है। दोषी व्यक्तियों को तुरन्त दण्ड नहीं दिया जाता और जब तक वे दण्ड पाते हैं, लोग यह भूल चुके होते हैं कि उनका अपराध क्या था। इसका कारण यह है कि कानून की प्रक्रिया अत्यन्त लम्बी, विलंबकारी और खर्चीली है।

अनुसूचित जातियों का मुक्ति आन्दोलन प्रारम्भ हो चुका है। उनके रास्ते में बहुत-सी कठिनाइयां और रुकावटें हैं। उनका शत्रु उनसे कहीं अधिक शक्तिशाली है। परन्तु उन्हें अनवरत रूप से संघर्ष करना ही पड़ेगा। हमें उन बेड़ियों को काटकर फेंक देना है जो हमारे पैरो में पड़ी हुई हैं क्योंकि तभी मानवता दासता से मुक्त हो सकेगी।

इस पुस्तक में मैंने जो विचार व्यक्त किए हैं उन्हें मैं पिछले कुछ वर्षों से अपने भाषणों में कहता आ रहा हूं। मुझे संतोष है कि अब पुस्तक के रूप में अपने विचार व्यक्त करके मैं पाठकों को इस समस्या को भलीभांति समझाने में सहायक होऊंगा। मैं इस बात पर बल देना चाहता हूं कि मेरी मंशा किसी वर्ग या जाति का दिल दुखाने की नहीं है बल्कि यह रही है कि वैदिक काल से लेकर आज तक हिन्दू समाज व्यवस्था का संक्षिप्त इतिहास बता सकूं और यह बता सकूं कि समाज जातियों और उपजातियों में किस प्रकार बंटा, सवर्ण हिन्दुओं की स्थिति किस प्रकार अच्छी रही और अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों को किन दयनीय परिस्थितियों में रहना पड़ रहा है।

मैंने उनकी कुछ समस्याओं का ब्यौरा दिया है और यह बताया है कि उन्हें किस प्रकार हल किया जा सकता है।

—जगजीवन राम

क्रम

1

उद्‌भव

वर्ण-व्यवस्था—और उसके परिणामस्वरूप छूतछात की प्रथा, भारत की एक अनूठी सामाजिक वास्तविकता है जिसकी जटिलता आसानी से समझ में नहीं आती। वर्ण व्यवस्था की जड़ें अतीत के अंधकार में कहीं छुपी हैं और इसी कारण समाजशास्त्र के विद्वान् इस विषय पर एकमत नहीं हैं कि जातिभेद की इस अनोखी प्रथा का आरम्भ कैसे हुआ और वह किस प्रकार विकसित हुई। हां, एक बात है और वह यह कि वर्ण-व्यवस्था की रूप-रेखा स्पष्ट है और उसके बारे में कोई मतभेद नहीं है। सामाजिक विकास के प्रारम्भिक चरण में समाज का वर्गों या व्यवसाय के आधार पर अलग-अलग समूहों में बंट जाना अनिवार्य ही था और यह वर्ग अथवा समूह पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलते रहे। इस प्रकार आप देखेंगे कि इतिहास के प्रारम्भ से ही जाति प्रथा की कुछ विशेषताएं रही हैं।

कबीलों की एक विशेषता यह है कि रोटी और बेटी के रिश्ते उनमें अपने तक ही सीमित रहते हैं। जब राष्ट्रों ने जन्म लिया तो उनमें बहुत से कबीले या जातियां थीं जिनमें एक-दूसरे के प्रति अत्यधिक घृणा और द्वेष की भावना विद्यमान थी। यद्यपि ये कबीले एक-जैसी भाषा बोलते थे और एक-दूसरे से मिलते हुए क्षेत्रों में रहते थे पर उनमें परस्पर शादी-ब्याह नहीं होते थे।

अपनों के साथ रोटी का रिश्ता—अर्थात् अपने लोगों को ही खान-पान में शामिल करना—इसलिए नहीं था कि दूसरों के साथ बैठकर खाने-पीने से भ्रष्ट होने का डर था, बल्कि इसलिए कि वे कठोर परिश्रम से जुटाए अन्न का सदुपयोग करना चाहते थे।

जब आर्य लोग भारत आए तो वे जाति में ही विवाह करने की स्थिति से आगे बढ़ चुके थे। उनमें तीन ही वर्ग थे जो व्यवसायपरक थे—पुरोहित, योद्धा और कारीगर। इस त्रिवर्ण समाज में वर्ण का अर्थ एक विशेष सामाजिक

कृत्य और संस्कृति तथा जीवन शैली का अपना-अपना अलग स्तर था।

जब आक्रमणकारी आर्यों और भारत के मूल निवासियों के बीच टकराव हुआ तो उसके परिणामस्वरूप संस्कृतिपरक भेदभाव तो अधिक उत्कट हुए ही, व्यवसायपरक भेदभाव भी अधिक बढ़ गए। उसी समय चौथी जाति—शूद्र—का प्रादुर्भाव हुआ और हमारा समाज चतुर्वर्ण समाज बन गया। ऋषि-मुनियों ने वर्ण व्यवस्था को सनातन तथा शाश्वत की संज्ञा दी और धीरे-धीरे लोगों में यह विश्वास फैल गया कि जाति प्रथा ईश्वरप्रदत्त व्यवस्था है।

इस ईश्वर-प्रदत्त सामाजिक व्यवस्था में पराजित आदिम जातियों के लोगों को सभी अधिकारों से वंचित कर दिया गया और भूमि में भी उनका कोई हिस्सा न रहा। उन्हें गांवों से बाहर रहने पर विवश होना पड़ा। जो काम सबसे घटिया माने जाते थे वही उनको सौंपे गए। वे लोग आज के अछूतों के पूर्वज थे (आज अछूत कहे जाने वालों की अलग-अलग कई जातियां हैं) जिन्हें अस्पृश्य या पंचम की संज्ञा दी जाती थी। वे हिन्दू जाति से सम्बद्ध तो थे परन्तु उसका अंग नहीं थे क्योंकि चतुर्वर्ण समाज के सोपानतंत्र में उन्हें कोई भी स्थान नहीं दिया गया था।

जब आर्यों की विजय और उनके देश में बसने की प्रक्रिया चल रही थी तो कई अन्य तत्व थे जिनका प्रभाव उस युग के सामाजिक संगठन पर पड़ रहा था। लोग एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थानों पर जा रहे थे। रीति-रिवाज बदल रहे थे। कुछ मूल निवासी कबीलों ने आर्यों के आगे न केवल आत्मसमर्पण कर दिया था, बल्कि उनके धर्म को भी स्वीकार कर लिया था; परन्तु बाकी कबीले ऐसा नहीं कर पाए और उनकी युयुत्सु मुद्रा बनी रही। आर्यों को अपने गोरे रंग पर अभिमान था और वे सांस्कृतिक दृष्टि से अपने को ऊंचा समझते थे। वे अपनी नस्ल को शुद्ध बनाए रखना चाहते थे। इन कारणों से त्रिवर्ण चतुर्वर्ण समाज बन गया जिसमें बहुत-सी जातियों और उपजातियों का प्रादुर्भाव हुआ।

पुरोहित वर्ग ब्राह्मणों का था जो बुद्धिजीवी और आध्यात्मिक नेता थे। यह विश्वास किया जाता था कि विद्वत्ता और आध्यात्मिक ज्ञान दीक्षा के विषय हैं और उनकी प्राप्ति एकाग्रचित्त होकर ही की जा सकती है। इसलिए शारीरिक श्रम ब्राह्मणों के लिए वर्जनीय हो गया। क्षत्रियों के लिए भी ऐसा ही विधान था क्योंकि वे ब्राह्मणों के समान सत्ता में भागीदार थे और ब्राह्मणों के प्रतिस्पर्धी थे। क्षत्रियों के अभिजातवर्ग को केवल बलप्रयोग से बचाए रखना संभव नहीं था, इसलिए ब्राह्मणों ने विस्तृत नियमावली तैयार की जिसके अन्तर्गत न केवल विभिन्न सामाजिक और सांस्कृतिक समूहों

के लिए आचरण के नियमों का विधान किया गया बल्कि कर्मकाण्ड और अनुष्ठानों की भी व्यवस्था की गई। प्रारंभ में वर्ग सामाजिक कृत्य और सांस्कृतिक स्तर का प्रतीक था लेकिन बाद में यह विचार प्रचलित हो गया कि समाज में विभिन्न वर्गों की व्यवस्था ईश्वर-प्रदत्त है। पुनर्जन्म, कर्म और माया के सिद्धान्तों की सहायता समाज के वर्गीकरण को उचित ठहराने के लिए ली गई। एक शक्तिशाली और प्रभावपूर्ण मुट्ठीभर लोगों के वर्ग ने सारे समाज पर जो समताविहीन और अलोकतांत्रिक व्यवस्था थोप दी थी, उसे इन्हीं सिद्धान्तों की सहायता से जीवित रखा गया।

ऐसा लगता है कि योरुप में विभिन्न प्रदेशों की शक्तिशाली सरकारों ने समाज में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह किया कि उसे कबीलों पर आधारित न रहने देकर क्षेत्रों पर आधारित बना दिया। राष्ट्रीय या मतवादी धर्म की व्यवस्था लागू होने के बाद कबीलों के परस्पर भेद मिट गए। इधर भारत में पांचवीं शताब्दी ईसा पूर्व तक ऐसी किसी क्षेत्रीय शक्ति का प्रादुर्भाव नहीं हुआ जो विभिन्न कबीलों को इकट्ठा करके उन्हें राष्ट्र के रूप में संजो सकती। हिन्दू धर्म राष्ट्रीय कम था और अन्तर्राष्ट्रीय अधिक—यह एक अद्भुत विचार-धारा थी कि हिन्दू धर्म शाश्वत और चिरंतन है और सभी धर्मों का उद्गम हैं। यह माना जाता था कि अन्य धर्म हिन्दू धर्म का ही भ्रष्ट रूप हैं। हिन्दू धर्म में यह विश्वास प्रबल था कि सारी मानव जाति चार वर्णों में बंटी हुई है।

हिन्दुओं के विश्वासों और उनके विशेष सामाजिक संगठन के कारण अधिकतर विदेशी आक्रमणकारियों को हिन्दुओं की वर्ण व्यवस्था में आत्मसात् करने में सहायता मिली। मुस्लिम आक्रमणकारियों के आने तक हिन्दू समाज में जाति प्रथा घर कर चुकी थी। विभिन्न जातियों के रहन-सहन के बारे में विस्तृत नियमावली का विकास हो चुका था। जीवन के प्रत्येक पहलू के बारे में नियम थे। कानून के सामने बराबरी का सवाल नहीं था। जाति प्रथा में निहित असमानता ईश्वर-प्रदत्त है, ऐसी मान्यता बन चुकी थी। इस कारण विधि-निर्माताओं ने किसी भी बात का ध्यान रखे बिना विभिन्न वर्णों के लिए विभिन्न प्रकार के दण्ड का विधान किया। अलग-अलग जातियों के लिए अलग-अलग करों की व्यवस्था की गई। धर्म और पुनर्जन्म तथा कर्म की धारणाओं ने लोगों की मानसिक स्थिति को एक नई दिशा दी।

इस मनःस्थिति के कारण अधिकतर लोगों के मन से विद्रोह का विचार लुप्त हो गया। उन्हें न केवल अपने भरण-पोषण बल्कि शोषक वर्ग के लिए भी श्रम करना पड़ता था। अछूत कहे जाने वाले लोगों के मन में भी यह विश्वास घर कर गया था कि यदि वे बिना चूं-चरां किए, स्वेच्छा से और

आज्ञाकारिता की भावना से ईश्वर के विधान के अनुसार अपने कर्त्तव्यों का पालन करते रहेंगे तो अगले जन्म में वे किसी ऊंची जाति के सदस्य बनेंगे।

लेकिन इस्लाम और ईसाई धर्म भिन्न थे। वे विजेताओं और शासकों के धर्म थे। उनमें नया उत्साह और दूसरे धर्म के अवलम्बियों को आत्मसात् करने की ललक थी। हिन्दू धर्म में अन्य धर्मावलंबियों को हिन्दू बनाने की प्रथा नहीं है। इस्लाम और ईसाई धर्म के अनुसार सभी मानव समान हैं। उनका कहना है कि उनके अनुयायियों में भाईचारे की भावना है। इसलिए हिन्दुओं के लिए यह संभव नहीं हुआ कि वे मुसलमानों या ईसाइयों को आत्मसात् कर लें जैसे उन्होंने हूणों, शकों आदि आक्रमणकारियों को कर लिया था जो अन्य बंजारे कबीलों के समान उत्तर-पश्चिम से भारत में आए थे।

इन दो धर्मों का प्रभाव इस प्रकार पड़ा कि लोगों के विचार उद्वेलित हो उठे। कई विरोधी आन्दोलनों का जन्म हुआ जिनका उद्देश्य सामाजिक समता लाना और ब्राह्मणों के वर्चस्व को समाप्त करना था। उससे पहले भी ब्राह्मणों के वर्चस्व के विरुद्ध विद्रोह हो चुके थे। मानवों के बीच असमानता और कर्मकाण्ड तथा अनुष्ठानों की विस्तृत व्यवस्था के विरुद्ध आवाज़ उठी थी जिसका विधान ब्राह्मणों ने किया था और जिसकी सहायता से वे समाज की व्यवस्था पर अपना वर्चस्व बनाए हुए थे।

इतिहास का कोई युग ऐसा नहीं हुआ जब इस व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह न हुआ हो। इस अर्थ में भगवान बुद्ध पहले महान् सामाजिक क्रांतिकारी थे जिन्होंने कुछ समय तक ब्राह्मणों के वर्चस्व को चुनौती देने में सफलता प्राप्त की। उन्होंने एक सीधे-सादे धर्म की शिक्षा दी जिसमें आचरण की शुद्धता पर बल दिया गया। परन्तु बुद्ध की इस क्रान्तिकारी विचारधारा को बनाए रखने और बल देने के लिए जिस समाज के आधार की ज़रूरत थी, वह संगठित नहीं था और न इस क्रांतिकारी विचारधारा को स्वीकार करने को तैयार ही था। इस प्रकार ब्राह्मण फिर अपना वर्चस्व स्थापित करने में सफल हो गए। इसका कारण कुछ हद तक यह था कि ब्राह्मणों ने बुद्ध के सिद्धान्तों को हिन्दू धर्म में समा लिया। उन्होंने आचरण की शुद्धता पर बल देना प्रारंभ किया और भगवान बुद्ध को अपनी देवमाला में ऊंचा स्थान प्रदान किया। ब्राह्मणों की इस सफलता का एक कारण यह भी था कि बुद्धमत का ढांचा अपनी अर्न्तनिहित विषमताओं के कारण लड़खड़ाने लगा था।

बाद के विद्रोह और सुधार आन्दोलनों का नेतृत्व रामानंद, कबीर, रविदास, एकनाथ, तुकाराम, चैतन्य महाप्रभु, नानक और अन्य कई सन्तों ने किया। इनमें से किसी भी सुधारक ने अलग से अपना कोई मत चलाने का मंतव्य नहीं रखा था। हिन्दू समाज की असमानता को ईश्वर की देन कहा

जाता था, कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्तों का सहारा लेकर सभी प्रकार के शोषण और अन्याय को उचित ठहराया जाता था और समाज के कई वर्गों को ज्ञान के प्रकाश से वंचित रखा जाता था। इन बातों से इन सन्तों को अत्यन्त मानसिक क्लेश होता था और उनकी चेष्टा यह थी कि जनता का हृदय परिवर्तन किया जाए और उसे समझाया जाए कि ईश्वर की दृष्टि में सभी मानव समान हैं। परन्तु शताब्दियों से लोगों को पुराने विश्वासों ने जकड़ रखा था। ब्राह्मणों द्वारा फैलाए विचार इस हद तक उनके मन में घर कर गए थे कि इन सन्तों-सुधारकों के प्रयत्नों का फल केवल यह हुआ कि उनके अनुयायियों के वर्ग बन गए। ये मत भी परम्परागत हिन्दू विचारधारा पर ही आधारित थे।

इनमें से कई मत आज भी विद्यमान हैं परन्तु उनकी गतिशीलता समाप्त हो गई है। बहुत से मत हिन्दू धर्म से अधिक भिन्न नहीं हैं जिसका अनुसरण अधिकतर लोग करते आए हैं। इस सम्बन्ध में बहुत कुछ चिन्ता और मनन करने की आवश्यकता है कि क्यों ये सुधारक जनता को पुराने विश्वासों के चंगुल से छुड़ाने में सफल नहीं हुए ? यह जानने के लिए अनुसंधान भी होना चाहिए कि क्यों भारत की जनता समाजविरोधी और अत्यन्त हानिकारक धार्मिक विश्वासों में जकड़ी रही और आज भी जकड़ी हुई है ?

उल्लेखनीय बात यह है कि इनमें से बहुत से सम्प्रदायों ने वैसे ही गोपनीय कर्मकाण्डों और अनुष्ठानों को अपनाया है जिनका विधान ब्राह्मणों ने किया था। इसका कारण सम्भवतः ब्राह्मणों का अंधानुकरण करने की इच्छा है। ये सम्प्रदाय हिन्दू धर्म की मुख्य धारा से निकले थे और कुछ ही समय बाद या तो नष्ट हो गए या फिर उसीमें आ मिले। हां, एक लाभ यह हुआ कि इन मतों से इनके अवलम्बियों को विश्वास की भावना मिली और वे उन प्रलोभनों से बच पाए जो इस्लामी लोकतंत्र की विशेषता थे। इस अर्थ में इन सम्प्रदायों ने ब्राह्मण-हिन्दू धर्म को संबल दिया और हिन्दू जाति को छिन्न-भिन्न होने से बचाया।

इन सुधार आन्दोलनों के बावजूद, बहुत से शूद्र या अछूत सिख-धर्म, इस्लाम या ईसाई धर्म की ओर आकृष्ट हुए। परन्तु सिख या ईसाई बन जाने पर भी जाति का कलंक उनके माथे पर लगा ही रहा और आज भी भारत में अछूत सिख और अछूत ईसाई देखने को मिलते हैं। यह विलक्षण घटना इस बात की प्रतीक है कि जनता के मन पर जातिवाद की छाप कितनी गहरी है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस्लाम और ईसाई धर्म पर हिन्दू समाज की व्यवस्था का प्रभाव कम नहीं था।

जो लोग यह कहते हैं कि इस व्यवस्था विशेष के कारण ही हिन्दू इस्लाम

और ईसाई धर्म का दबाव सहन कर पाए और उन्होंने अपने धर्म की रक्षा की, तथा समाज को विघटन से बचा सके, वे एक महत्त्वपूर्ण तथ्य भूल जाते हैं। वह यह है कि यही विशेषता हिन्दू समाज की दुर्बलता भी है जिसके कारण उसकी सफलता सीमित रही है। भारत में जो कुछ भी हुआ, जो भी सफलता मिली उसका श्रेय केवल ऊंची जातियों को ही जाता है। छोटी जातियों के लोगों से समाज की प्रगति के लिए काम लिया गया परन्तु उन्हें इतिहास निर्माण में साझीदार नहीं बनाया गया। उन्हें इतिहास की सीमाओं से, उसकी परिधि से बाहर ही रखा गया। राष्ट्र निर्माण की भूमिका की परिधि में वे कभी नहीं आए।

ऊंची जातियों के लिए ऐसा करना इस कारण संभव था कि वे समाज में सत्तारूढ़ थे और नीची जातियों के लोगों से बलपूर्वक काम ले सकते थे। परन्तु वास्तविकता यह है कि जनसंख्या के एक बहुत बड़े भाग को देश और राष्ट्र के भाग्य-निर्माण में रचनात्मक भूमिका निभाने से वंचित रखा गया। भारतीय समाज की यही एक बड़ी कमज़ोरी रही है जिसके कारण न केवल निचली जातियों का अपमान हुआ बल्कि ऊंची जातियां भी पथभ्रष्ट हो गईं। इसी स्थिति की चर्चा करते हुए पंडित नेहरू ने एक बार कहा था कि इन्हीं कारणों से राष्ट्र में जड़ता आ गई जो भारत की अर्थव्यवस्था और जन-जीवन को कलुषित करती रही।

यदि भारत के समाज में अधिक सामंजस्य होता और उसके प्रति निष्ठा की अधिक भावना होती तो सम्भवतः मुसलमान आक्रांता भारत पर विजय पाने में सफल न होते। इस कारण इस बात पर कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि भारत का समाज लम्बी अवधि तक निष्क्रिय और जड़वत् पड़ा रहा, जागीरदारी व्यवस्था लम्बी अवधि तक बनी रही और साहसिकता तथा आविष्कारिता की इस भावना का भी अभाव रहा जिसके कारण पश्चिमी देशों में औद्योगिक क्रान्ति का सूत्रपात हुआ था।

पहले के सुधारक अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफल नहीं हो पाए, इसका कारण सम्भवतः यह था कि उन्होंने उस समय की प्रचलित हिन्दू विचारधारा पर प्रत्यक्ष कुठाराघात करने की चेष्टा की। समाज उन नए मूल्यों को न तो समझ सका और न आत्मसात् कर पाया जो सुधार आन्दोलनों की नींव थे।

यद्यपि जाति प्रथा की संकल्पना और उसका व्यवहार अभिजात वर्ग के विचार पर आधारित है और लोकतंत्र की विचारधारा के सर्वथा प्रतिकूल है, फिर भी पुराने युग में इसने समाज को तनिक स्थिरता दी। वर्ण व्यवस्था में आचार तथा व्यवहार की जो सीमाएं बांधी गई थीं उनके भीतर रहते हुए हम लोग स्वतंत्र थे परन्तु यह स्वतंत्रता अत्यन्त सीमित थी।

इसी व्यवस्था में भारतीय गांवों की आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था का विकास हुआ। क्रान्तियों, आक्रमणों, देश में होने वाले युद्धों और संघर्षों के बावजूद यह अर्थव्यवस्था बनी रही। किसी गांव पर किसी अन्य शासक का अधिकार हो सकता था परन्तु उसके आन्तरिक जीवन और उसकी अर्थव्यवस्था में कोई अन्तर नहीं आता था। अधिकतर ग्रामवासी दासों जैसा जीवन व्यतीत करते थे, शासक चाहे कोई भी हो। राजनीति उनके बस का रोग नहीं थी। जुलाहे, बढ़ई, चमार, नाई, धोबी और अन्य कारीगरों की समृद्धि इस बात पर निर्भर थी कि वे प्रतिदिन श्रम करते हैं या नहीं। राजनीतिक परिवर्तनों से उनकी आजीविका पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था।

अंग्रेज़ी राज्य के आने से यह जड़वत् संतुलन समाप्त हो गया। जब मशीन और मिलों के बने माल से प्रतिस्पर्द्धा करनी पड़ी तो भारतीय गांवों की अर्थ-व्यवस्था और उसकी आत्मनिर्भरता पर घातक प्रहार हुआ। जब औद्योगिक क्षेत्रों का प्रसार हुआ तो उत्तरोत्तर निर्धन होते हुए कृषि मज़दूर और कारीगर भी इन औद्योगिक केन्द्रों में पहुंचने पर विवश हो गए। साम्राज्यवादी शोषण पद्धति में यह अनिवार्य था कि गांवों में केवल कच्चा माल बने या कृषिजन्य पदार्थों का उत्पादन हो जिनका उपयोग उद्योगों में किया जा सके। जब ओद्यौगिक जीवन का प्रारंभ हुआ और औद्योगीकरण ने जन-जीवन पर अपना प्रभाव डाला तो नागरिक क्षेत्रों में वर्ण व्यवस्था की कठोरता कम हो गई परन्तु गांवों में रूढ़िवाद का झंडा गड़ा रहा। वहां के लोग हिन्दू विचारों की लीक से परे नहीं हट सके।

इस संदर्भ में जब हम हिन्दू विचार सम्प्रदाय या हिन्दू विचारधारा की बात करते हैं तो हमें यह याद रखना पड़ेगा कि हिन्दू विचारधारा अपने आप में बड़ी जटिल व्यवस्था है। हिन्दू दर्शन में विभिन्न धाराएं हैं और बहुधा वे एक-दूसरे की विरोधी हैं। एक विचारधारा तो मानवतावादी और लोकतंत्र पर आधारित है जिसके अनुसार मानव ही प्रत्येक बात की कसौटी है। उसमें यह विश्वास निहित है कि जन्म से सभी मानव स्वतंत्र और समान हैं और मानव का व्यक्तित्व ईश्वरीय और अनोखा है। हिन्दू विचार पद्धति की इस प्रकार की विचारधाराओं को देखकर यह कहना उचित लगता है कि हिन्दू धर्म सम्भवतः सबसे अधिक उदार धर्म है। परन्तु इसी मिली-जुली हिन्दू विचारधारा में पुरातनपंथी सनातनधर्मियों के इस विश्वास का आधार भी मिल जाता है कि चतुर्वर्ण व्यवस्था ईश्वरप्रदत्त है। हिन्दू धर्म कोई धर्म या सम्प्रदाय नहीं है बल्कि बहुत से सम्प्रदायों और धर्मों का संगम है।

चार वर्णों के पीछे जो मूल सिद्धान्त है उसका इतिहास बड़ा लम्बा है। इसने अभी तक जनमानस को जकड़ रखा है। यह अवश्य है कि आधुनिक

जीवन की परिस्थितियों के कारण यह पकड़ ढीली पड़ती जा रही है। इस सम्वन्ध में दो राय नहीं हो सकतीं कि लोकतंत्र की विचारधारा और भारत की सामाजिक तथा आर्थिक आवश्यकताओं के संदर्भ में वर्ण व्यवस्था के सिद्धान्त में कोई बल नहीं रहा है। समाज के स्वयं सोच-समझ सकने वाले अंग इस बात पर एकमत हैं कि प्राचीन युग की इस थाती को जितना शीघ्र तिलांजलि दे दी जाए उतना ही भारतीय समाज के लिए अच्छा होगा।

परन्तु साध्य के बारे में सहमति होते हुए भी साधनों पर बहुत अधिक मतभेद है। सैद्धांतिक दृष्टि से लोकतंत्र में विश्वास रखने वाले और उत्कट राष्ट्रवादियों के समूह हैं जो यह कहते हैं कि जाति का नाम तक लेना बन्द कर देना चाहिए। उनका विश्वास है कि यदि लोग जातपात की बात बन्द कर दें और उन मानसिक अवरोधों से निकलकर स्वतंत्र वातावरण में सांस लेने लगें, जहां मानवों को उनके गुण-दोषों के आधार पर परखा जाता है, और इस आधार पर नहीं कि वे किस जाति के हैं, तो जात-पात और छुआछूत का अन्त हो जाएगा।

एक अन्य वर्ग ऐसे व्यक्तियों का है जो राष्ट्र की अखण्डता को अधिक महत्त्व देते हैं और उन व्यक्तियों को कम जिन्हें मिलाकर राष्ट्र बना है। उनका कहना है कि जातियों के आधार पर सुधार की चेष्टा करने से इस प्रथा में निहित स्वार्थ उत्पन्न हो गए हैं और हमने अनजाने में जाति प्रथा को नया जीवन दिया है, यद्यपि हम इससे संघर्ष करने का दावा करते हैं। इस वर्ग के लोगों का कहना है कि सुधार तथा सहायता के कार्यों की एकमात्र कसौटी जाति नहीं बल्कि पिछड़ापन होना चाहिए, फिर वह आर्थिक हो अथवा सामाजिक।

कुछ ऐसे व्यक्ति भी हैं जिनका यह विश्वास है कि यह समस्या मुख्य रूप से आर्थिक है और यदि इसको आर्थिक रूप से हल कर दिया जाए तो इसके सामाजिक, सांस्कृतिक और दूसरे पहलू अपने आप सुलझ जाएंगे। उनका विचार है कि जाति की सम्बद्धता की भावना को उदात्त शिखर पर ले आया जाए तो उसका प्रयोग राष्ट्रीय एकता और सभी कार्य परस्पर सहयोग के आधार पर करने के लिए किया जा सकता है।

इन विचारों के व्यक्ति विशेष आरक्षणों या सुविधाओं के विरुद्ध हैं क्योंकि उनका विश्वास है कि इनसे जातिगत भावनाएं और अपनी-अपनी जाति के प्रति निष्ठा सदा बनी रहेगी और जाति से ऊपर उठकर समूचे राष्ट्र के प्रति निष्ठा की भावना का विकास होने में बाधा पड़ेगी। ये व्यक्ति सहृदय अवश्य हैं परन्तु अनजाने में पिछड़ी जातियों के संरक्षकों की भूमिका निभाने लगते हैं क्योंकि उनका यह विश्वास है कि उन्हें वह नैतिक ऋण चुकाना है जो उन

लाखों शोषितों का उनपर है। वह समझते हैं कि इन्हीं तरीकों से राष्ट्र का हित हो सकता है। मेरा विश्वास है कि इस प्रकार के विचार और ऐसे रवैयों का कारण या तो यथार्थ का सर्वथा अज्ञान है या वे सचाई से मुंह छुपाना चाहते हैं।

जात-पात अत्यन्त हानिकारक और अमानवीय प्रथा है—इतना विश्वास करना ही काफी नहीं है। ऐसी आस्थाओं की घोषणा करने से कोई लाभ नहीं होता। महत्त्व इस बात का है कि इन जातियों के प्रति व्यवहार किस प्रकार किया जाता है। इन जातियों के प्रति पढ़े-लिखे व्यक्तियों का व्यवहार भी कुछ पूर्वाग्रहों पर आधारित है जिनका हिन्दू विचारधारा में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। आज भी यह पूर्वाग्रह पहले जैसा ही बना हुआ है कि शारीरिक श्रम से सम्बन्धित व्यवसायों को और उनमें लगे हुए व्यक्तियों को तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाए। आज भी समाज ऐसे व्यक्ति को अधिक सम्मान देता है जो हाथ से काम नहीं करता।

ऊंची जाति के बुद्धिजीवियों के विश्वास चाहे कुछ भी हों उन्होंने सोचने की जो आदत अपने पूर्वजों से प्राप्त की है और एक ही जाति में विवाह की प्रथा तथा जाति व्यवस्था के सोपानतंत्र के बारे में उनके जो विचार हैं, वे ही इस बात का निर्णय करते हैं कि ऊंची जाति के इन लोगों का व्यवहार कैसा होगा। ये पूर्वाग्रह और पूर्व धारणाएं समाज के ताने-बाने का अभिन्न अंग हैं। ये हमारे अन्तर्मन की गहराइयों तक जा पहुंचे हैं। यही कारण है कि हम कथनी और करनी में इतना अधिक अन्तर देखते हैं। इसीलिए तथाकथित बुद्धिजीवियों में भी ऐसे व्यक्तियों की संख्या अधिक नहीं है जिनके मन पूर्वाग्रहों से पूर्णतया स्वतंत्र हों।

कथनी और करनी के इस भेद को किस प्रकार मिटाया जा सकता है? पिछड़ी जातियों को यह विश्वास किस प्रकार दिलाया जा सकता है कि चाहे उनके लिए किसी आरक्षण या परित्राण की व्यवस्था न की जाए, ऊंची जाति के सहृदय बुद्धिजीवियों के हाथों में उनके हित सुरक्षित रहेंगे? ये ऊंची जातियां वही हैं जो अपनी सदाशयता और बौद्धिक विश्वासों के बावजूद जातिगत पूर्वाग्रहों और व्यवहारों से ऊपर उठने में सफल नहीं हुईं। मूल समस्या यही है जिस पर गंभीरतापूर्वक विचार करना पड़ेगा और ईमानदारी से इसका हल खोजना पड़ेगा।

मैं समझता हूं कि यह समस्या, जात-पात और छुआछूत के उन्मूलन की, नकारात्मक समस्या नहीं है। सकारात्मक ढंग से देखा जाए तो यह समस्या हमारी जनता के मानस को बदलने की है जिससे कि हिन्दुओं के युगों पुराने विश्वासों और सोचने के तरीकों में परिवर्तन किया जा सके। समस्या पुनरु-

द्धार और सुधार की उस प्रक्रिया को पूरा करने की है जिसका सूत्रपात कई महान् सन्तों ने किया लेकिन जो सम्पूर्णता के चरण तक नहीं पहुंच सके।

योरुप में विकास के उस चरण की याद आती है जिसे पुनर्जागरण के युग की संज्ञा दी गई है। इस युग में न केवल लोगों के बौद्धिक तथा नैतिक रवैये में अन्तर आया बल्कि एक नये सामाजिक तथा आर्थिक आधार का निर्माण हुआ जिसमें ये नये विचार जीवित रह सकते थे। इस युग के प्रभाव और इसकी प्रेरणा से योरुप के राष्ट्रों ने एक नये युग में प्रवेश किया जिसमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किए गए। इससे रचनात्मक कार्यकलाप को प्रोत्साहन मिला, जो न केवल बौद्धिक बल्कि अन्य क्षेत्रों में भी परवान चढ़ा।

यह सब कैसे हुआ, यह हमें जानना होगा। इसके परिणामस्वरूप मानव धर्मतंत्र की बेड़ियों से स्वतंत्र हुआ और इस बात को स्वीकार किया गया कि मानव ईश्वर की ही प्रतिमूर्ति है। मानव में निहित गुणों और मानवीय जीवन के बारे में इस नये दृष्टिकोण ने ही वह चमत्कार कर दिखाया जिसे पुनर्जागरण की संज्ञा दी गई है। इसके परिणामस्वरूप योरुप के देशों ने अतीत से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। इसमें मध्य युग के विचारों की मौलिकता का विकास किया गया और मानव ने आध्यात्मिक स्वतंत्रता के माध्यम से इतिहास के सातत्य और मानव स्वभाव का तादात्म्य स्थापित किया। मध्य युग की पुराणपंथी के कारण जो मानसिक सीमाएं बांधी गई थीं उन्हें पुनर्जागरण के आन्दोलन में नष्ट किया गया। लम्बे समय तक दमनकारी धार्मिक तथा राजनीतिक पुराणपंथ की दासता से मानव की आत्मा को मुक्ति मिली और उसने आधुनिक राज्यों के विकास का मार्ग प्रशस्त किया। इसका प्रभाव न केवल आर्थिक जीवन तथा विचारों पर पड़ा बल्कि धार्मिक विश्वासों पर भी बहुत अधिक प्रभाव हुआ और स्वयं धर्म में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आए।

परन्तु दुर्भाग्यवश, भारत में, यह आन्दोलन पूर्णता तक नहीं पहुंच पाया। भगवान बुद्ध इसलिए असफल रहे क्योंकि वह ऐसे सुधारक थे जो उस युग में बहुत आगे थे और समाज उन सुधारों के लिए अभी तैयार नहीं था। अन्य साधु-सन्तों ने जिन सुधारों का सूत्रपात किया वे इस कारण असफल हुए कि उनके अनुयायी समाज से कटकर रह गए और इन सुधारों के परिणामस्वरूप जाति व्यवस्था तो समाप्त नहीं हुई पर नई जातियों का प्रादुर्भाव हो गया। इस प्रकार इन सुधारों के पीछे जो विचार था वह असफल रहा। मानव के व्यक्तित्व की पहचान और उसके प्रति आदर की भावना लोगों के मन में घर नहीं कर पाई।

पुरानी व्यवस्था पर सबसे अधिक शक्तिशाली प्रहार महात्मा गांधी ने किया। वे दृढ़ कदमों से बुराइयों से जूझते हुए बड़ी सावधानी से आगे

बढ़े। उन्होंने भारतीय समाज के चार वर्णों की व्यवस्था के पीछे निहित धारणाओं को चुनौती देकर अपना आन्दोलन प्रारम्भ नहीं किया परन्तु फिर भी वह इस व्यवस्था की जड़ें हिलाने में सफल हुए। बापू ने जो कार्य प्रारम्भ किया था, उसे हमें पूरा करना है। हमें इस बात को समझना पड़ेगा कि मानव के कार्यकलाप का वास्तविक साध्य स्वतंत्रता है। जो भी व्यक्ति मानवीय प्रतिष्ठा में बाधा डालता है या उसे हानि पहुंचाता है वह स्वतंत्रता की राह का रोड़ा है। इस बात को समझना पड़ेगा कि मानवीय आत्मा के प्रसार और उसकी स्वतंत्रता के उद्देश्य का नकारात्मक पहलू छुआछूत और जात-पात का उन्मूलन है।

हमें इस बात को भी समझ लेना चाहिए कि हिन्दू विचारधारा की आज की परिधि में रहते हुए मानव की प्रतिष्ठा और उसकी अक्षुण्णता के विचार पनप नहीं सकते, क्योंकि जब तक यह विचारधारा बनी रहेगी, इसका प्रभाव हिन्दुओं के आचरण पर पड़ता रहेगा।

यह एक बहुत बड़ी बाधक शक्ति है। यद्यपि यह दिखाई नहीं देती लेकिन इसने हिन्दुओं को अपनी दासता की बेड़ियों में जकड़ रखा है। इन्हीं बेड़ियों के कारण हिन्दू अपने परिवेश को चुनौती नहीं देता। वह इसे स्वीकार कर लेता है और सबसे अधिक उदात्त गुण और एकमात्र शाश्वत मानव मूल्य तथा विशेषाधिकार—स्वतंत्रता—को तिलांजलि दे देता है। सुधार का जो भी आन्दोलन प्रारम्भ होता है उसके रास्ते में सबसे बड़ी रुकावट यह है कि हिन्दू स्वेच्छा से इन बौद्धिक बेड़ियों को पहने हुए है। अपनी ही जाति में सुरक्षा की खोज और प्रतिष्ठा की ललक विवशता की भावना से जन्म लेती है, बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार बच्चा सुरक्षा के लिए अपने माता-पिता की गोदी में शरण लेता है।

इस व्यवस्था का प्रभाव इतना अनिष्टकारी और व्यापक है कि देश की जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग, जिसमें पिछड़े वर्ग भी हैं, इन बेड़ियों से मुक्ति पाने की बात कम सोचता है और ऊंची जातियों की प्रथाओं और आचरण का अनुकरण करने की अधिक। इस प्रकार के असंख्य उदाहरण मिलेंगे कि नीची जातियों के लोग ऐसे उपनाम रख लेते हैं जिनके प्रतिष्ठित होने का विश्वास है। यह भी देखा गया है कि विधवाओं के पुनर्विवाह को केवल इस कारण निरुत्साहित किया जाता है कि वह सामाजिक प्रगति का प्रतीक है। यदि अछूत अपनी ही जातियों में छुआछूत मानते हैं तो इसका कारण एकमात्र यह कहा जा सकता है कि वे सच्चे मन से ब्राह्मणों का अन्धानुकरण करने की चेष्टा कर रहे हैं। ब्राह्मण सूक्ष्म और स्वतंत्र उप-विभागों का घालमेल या अपमिश्रण हैं जो एक ही नाम से जाने जाते हैं।

एक बार हम यह समझ लें कि भारतीय राष्ट्रवाद का विकास प्रथाओं और सांस्कृतिक परम्पराओं जैसी अनूठी और शक्तिशाली नीतियों के बीच हुआ तो हमें यह बात समझ में आ जाएगी कि इस समस्या को शीघ्रातिशीघ्र हल करना कितना आवश्यक है। हमें यह भी पता चल जाएगा कि आज का सामाजिक ढांचा और सोचने का ढंग न तो समाज के विकास में सहायक हो सकता है और न लोकतंत्र के विकास में।

2

सामाजिक संघर्ष और सांस्कृतिक संकट

हमारा देश आज एक सांस्कृतिक संकट में से गुज़र रहा है। इसके अतिरिक्त जात-पात और छुआछूत की समस्याएं भी हैं। यह संकट इतना गहरा और व्यापक है कि हमें कटु सत्य को पहचानना पड़ेगा। हम संस्कृति, उच्च नैतिक मूल्यों और लोकतंत्र की बात करते हैं, सभ्यता का राग अलापते हैं और तकनीकी तथा आर्थिक विकास की बात भी करते हैं, परन्तु जब तक जाति व्यवस्था का उन्मूलन नहीं कर दिया जाता, ये सब बातें निरर्थक हैं।

इस सामाजिक संघर्ष और सांस्कृतिक संकट के चाहे जो भी कारण हों और उनके लिए चाहे जो भी ज़िम्मेदार हों, हम यहां इनका ब्योरेवार विश्लेषण नहीं करेंगे। परन्तु एक बात निर्विवाद रूप से सच है और वह यह कि सारे देश में असंतोष फैला हुआ है। यह असन्तोष क्या मात्र परम्परागत मूल्यों के प्रति हमारे तिरस्कार के कारण है या, क्या यह हमारे नैतिक मूल्यों के ह्रास के कारण है? क्या यह संकट इस कारण उत्पन्न हुआ कि हममें उन मानवीय मूल्यों को आत्मसात करने की योग्यता नहीं थी जिनके आधार पर लोकतंत्र और समाजवाद की व्यवस्था स्थित है। क्या यह सांस्कृतिक संकट इस कारण है कि समाजवादी समाज की व्यवस्था करने का हमारा उद्देश्य हमारे जागीरदारी और पुरातनपंथी रवैये से मेल नहीं खाता?

इन सभी तत्त्वों का विश्लेषण करते समय हमें एक बात का ध्यान रखना पड़ेगा। हमें यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि यदि समाज के जीवन का उद्देश्य समाज की यथार्थता से मेल नहीं खाता और उसका उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं बैठता तो वह उद्देश्य एक मायाजाल है। इस बात से कोई अंतर नहीं पड़ता कि वह उद्देश्य कितना उदात्त है। लक्ष्यों को कार्य रूप में परिणत करना कठिन होता है। उदाहरण के लिए, महाकवि कालिदास के ग्रन्थों में जिन सामाजिक लक्ष्यों का उल्लेख है वे उस युग की जीवन शैली और विचार-

धारा के ऐतिहासिक कारणों के प्रतीक मात्र हैं।

कालिदास के ही शब्दों में : "जैसे ग्रहों की दशा और उनकी गति ईश्वर के हाथ में है, उसी प्रकार रघुकुल के वीर आत्मजों का अनुसरण उनके अनुयायी मनु के आदेशानुसार करते हैं क्योंकि रघुकुल के राजा ही प्रत्येक पथ को प्रकाशमान करते हैं।" जब रघुकुल के अंतिम शासक ने मनु का बताया हुआ रास्ता छोड़ दिया तो उसकी अकाल मृत्यु हो गई और रघुकुल समाप्त हो गया।

यह लक्ष्य अकेले कालिदास का ही नहीं था बल्कि उसके समूचे समाज का था जिसका विश्वास क्षात्र धर्म और उन कठोर नियमों में था जिनका विधान मनु ने किया था। जीवन के आधुनिक विचारों और विकसित विचार शैली के सन्दर्भ में हम मनुस्मृति के नियमों को स्वीकार नहीं कर सकते जिनके अनुसार एक ही अपराध के लिए भिन्न-भिन्न वर्गों को भिन्न-भिन्न दण्डों की व्यवस्था की गई है। परन्तु इसके लिए हम मनुस्मृति को दोष नहीं दे सकते। सच तो यह है कि उस युग के समाज के विचार ही ऐसे थे। उन दिनों राजा या शासक का कथन देववाणी से कम नहीं था। इस बात को स्वीकार करने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि आधुनिक समाज इस स्थिति में नहीं है कि वह क्षात्र धर्म के लक्ष्यों या मनुस्मृति के नियमों का मूल्यांकन कर सके।

आज मैं भारत के पहले और सबसे अधिक पुराणपंथी राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद के शब्दों को नहीं भुला सकता जो उन्होंने नवनिर्मित सोमनाथ मन्दिर के उद्घाटन समारोह के समय कहे थे। उन्होंने कहा था कि अतीत पर दृष्टिपात करने का एकमात्र प्रयोजन उन तत्वों को समझना है जिन्होंने ऐतिहासिक उथल-पुथल के बावजूद हमें एक राष्ट्र के रूप में जीवित रखा है। अपने अतीत का अध्ययन करने का और कोई प्रयोजन नहीं हो सकता। हम आज इस संसार को फिर से नहीं बना सकते। विज्ञान ने कई चमत्कार दिखाए हैं लेकिन यह काम उसके लिए भी असाध्य है।

शंकराचार्य जैसे आदरणीय व्यक्तियों का कहना है कि जाति व्यवस्था के अनुसार जीना और सोचना ही भारतीय संस्कृति का सच्चा अनुगमन है और यदि विभिन्न जातियों का सम्मिश्रण होगा तो राष्ट्र नष्ट हो जाएगा। शंकराचार्य ने यह भी कहा है कि चार वर्णों की उपेक्षा नहीं की जा सकती, कि जातिहीन समाज की स्थापना असम्भव है क्योंकि जाति व्यवस्था का विकास राष्ट्रीय और परम्परागत स्वभावों का निर्णय करने के उद्देश्य से हुआ है। उनका कहना है कि यह भारतीय मूलभूत पहलू है। मैं तो इसे एक गलती और एक भ्रम की संज्ञा देता हूं—और यह भ्रम बहुत बड़ा भ्रम है।

आज संविधान स्वीकार हो जाने के बाद भी शंकराचार्य अपने एक लेख

में यह लिख सकते हैं कि वेदों के अनुसार यदि नीची जाति का कोई व्यक्ति किसी मन्दिर में चला जाए तो मन्दिर दूषित हो जाता है। उनका कहना है कि इस प्रकार प्रेतात्माएं मन्दिर की मूर्तियों में प्रवेश कर जाती हैं और जब इन मूर्तियों की पूजा की जाती है तो वे आत्माएं अधिक शक्तिशाली हो जाती हैं। उसके परिणामस्वरूप संघर्ष, क्रोध और घृणा की भावनाएं बढ़ती हैं जिनसे रोग, अव्यवस्था, बाढ़, सूखा, दुर्भिक्ष तथा भूचाल जन्म लेते हैं। इस प्रकार लोगों को विनाश का सामना करना पड़ता है।

इस प्रकार के विचारों से क्रोध नहीं आता, तरस आता है। इस बात को दोहराते रहने का कोई मतलब नहीं है कि भारतीय संस्कृति शाश्वत है और संसार की सर्वोत्तम संस्कृति है। यह कहना भी निरर्थक है कि संसार की संस्कृतियों ने भारतीय संस्कृति से बहुत कुछ सीखा है। यदि कुछ लोगों को अपने मानसिक और शारीरिक विकास के अवसरों से वंचित रखा जाता है, यदि उन्हें अपने आर्थिक और राजनीतिक सुधार के लिए ज्ञान प्राप्त करने के अवसर प्रदान नहीं किए जाते तो संस्कृति को बनाए रखना एक निष्प्रयोजन और निरर्थक काम है।

यदि सोचने, बोलने और कार्य करने के लक्ष्य को उपनिषदों में भारतीय संस्कृति की संज्ञा दी जाती है तो यह कहना तर्कसंगत नहीं होगा कि प्रत्येक व्यक्ति को इस संस्कृति के मूल तक पहुंचने का अवसर प्रदान करना चाहिए? पुरानी संस्कृति के प्रभाव में उपनिषदों के अध्ययन में लगे हुए एक समकालिक ब्राह्मण विचारक ने एक नये विचार को जन्म दिया। उसका कहना था कि समाज अदृश्य परमात्मा की प्रतिमूर्ति है। परमात्मा ब्रह्माण्ड का स्वामी है और सारी राष्ट्रीय सम्पत्ति भी उसी की है। समाज और राष्ट्र ईश्वर की ही प्रतिमूर्ति है। इस राष्ट्र की सारी मेधा, शक्ति और सम्पत्ति भगवान की है। मानव अपना सर्वस्व देकर निष्काम भाव से ईश्वर की आराधना कर सकता है और उसकी आज्ञा का पालन कर सकता है। मनसा वाचा कर्मणा राष्ट्र की सेवा करके अपने एकमात्र कर्त्तव्य की पूर्ति के उदात्त लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।

इस प्रकार का विचार पग-पग पर हमारे उद्देश्यों और हमारे कार्यों में दिखाई पड़ता है। यहां पर हम वेदों का हवाला भी दे सकते हैं। वेदों में काव्यात्मक ढंग से यह कहा गया है कि ब्रह्मा के चार अंगों से चार वर्णों की उत्पत्ति हुई परन्तु सामाजिक संकीर्णता किसी भी वेद में दृष्टिगोचर नहीं होती। वेदों में जो समाज परिलक्षित हुआ है वह एक महत्त्वाकांक्षी और स्वस्थ ग्राम्य समाज था जो अनवरत रूप से संघर्ष कर रहा था। लेकिन इतिहास की धाराएं ऐसे समाज को बहुत पीछे छोड़ आई हैं और आधुनिक युग में और

बहुत-सी सामाजिक व्यवस्थाओं का जन्म हुआ है और उनमें से कुछ की मृत्यु भी हुई है। जब हम अतीत को वापस नहीं ला सकते तो हम उसी प्रकार के समाज को फिर से स्थापित करने की इच्छा भी नहीं कर सकते। यह न तो सम्भव है और न जनता या समाज के हित में। हां, विचारों को शाश्वतता प्रदान की जा सकती है। वेदों और उपनिषदों में यही विश्वास मिलता है। वेदों या पुराणों में जिस समाज का वर्णन आता है, उसका पुर्नानर्माण असम्भव है, परन्तु उनमें जो उदात्त विचार पूर्णता के शिखर तक पहुंचे उनसे हमें प्रेरणा मिल सकती है।

जब कोई ऋषि कहता है : "हे सूर्य, मैं वही हूं जो तुमने मुझे बनाया है। यह रंगारंग प्रकृति, संसार के मानव, तुम और मैं सब एक समान हैं"—तो मैं समझता हूं कि यह मानव की आध्यात्मिकता का चरमोत्कर्ष है। उपनिषदों में कहा गया है : "सारा ब्रह्माण्ड किसी बाह्य ईश्वर द्वारा निर्मित नहीं। यह अपने आप बना, अपने आप संगठित, स्वयंभू, स्वयं नियंत्रित, स्वयं कार्यरत, शाश्वत, असीम और ब्रह्म की अपार रचना है। ऐसा लगता है कि ब्रह्माण्ड की रचना का विचार आधुनिक संकल्पना है। गीता में मानव कल्याण के लिए निष्काम भाव से दृढ़ प्रतिज्ञ होकर कार्य करने का जो उपदेश दिया गया है उसे गांधीजी ने दो शब्दों में हमारे सामने रखा है : सत्य और अहिंसा। क्या आधुनिक वैज्ञानिक युग में यही दो शब्द हमारे लक्ष्य के प्रतीक नहीं हो सकते ?

हम देखते हैं कि एक ओर तो हमारे धार्मिक ग्रन्थों में ऐसे विश्वासों की झलक मिलती है कि ब्रह्माण्ड में मानव ही सबसे अधिक मेधावी जीव है जिसे देवों ने स्वयं चुना है। यह भी कहा गया है कि मानव प्रकृति की अनोखी कृति है और सभी मानव समान हैं। परन्तु दूसरी ओर हम देखते हैं कि उस युग के सामाजिक जीवन में इन उदात्त लक्ष्यों का सर्वथा अभाव है। यह स्पष्ट है कि सामाजिक जीवन में इन विलक्षण सत्यों के लिए कोई स्थान नहीं था। सम्भव है कि कुछ सन्तों ने इन लक्ष्यों को कार्यरूप में परिणत करने का प्रयत्न किया हो परन्तु सामान्य जन तो इन्हें सत्यनारायण का प्रसाद मात्र मानते थे जो आध्यात्मिक लाभ के लिए प्रसाद के समान लिया जाता है और अन्न के समान खाया नहीं जाता। इन उदात्त विचारों और विश्वासों ने हमारे समाज के संगठन, उसकी व्यवस्थाओं, उसके व्यवहारों और प्रथाओं में कोई योगदान नहीं दिया बल्कि ये शून्य में लटकती प्रेतात्माओं के समान रहे जिनका वास्तव में कोई अस्तित्व नहीं था। सच तो यह है कि सदा ऐसा ही होता आया है कि पैगम्बरों, साधु-सन्तों और समाज के नेताओं के उपदेश उस समाज ने सदा स्वीकार नहीं किए और उनपर कार्य नहीं किया। सच तो

यह है कि जन मानस को इनके अनुकुल बनाने में दशाब्दियां बल्कि शताब्दियां तक लग जाती हैं। यही बात हमारे वैदिक समाज के बारे में भी कही जा सकती है। उस युग के समाज की संकल्पना ही भिन्न थी। उपनिषदों की भाषा सम्भवत: वाद-विवाद की भाषा थी। हिन्दू समाज ऊंची जातियों का समाज था और इस कारण यह माना जाता था कि ये उदात्त लक्ष्य केवल संस्कृत व्यक्तियों के लिए ही हैं। सभी मानवों के भाग्य में यह नहीं बदा था कि पवित्र परम्पराओं और ब्राह्मणवाद के प्रकाश से लाभान्वित हों। दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि समाज के दो रूप थे—एक व्यावहारिक और एक सैद्धांतिक, और इन दोनों में कोई भी सामंजस्य या मेल नहीं था।

कारण जो भी रहा हो, जिन सामाजिक व्यवस्थाओं को वेदों, उपनिषदों या गीता में कोई समर्थन नहीं मिला उन्हें ईश्वर-प्रदत्त कह दिया गया। पुराणों और स्मृतियों के लेखकों ने सामाजिक संगठन के नये सिद्धान्तों की स्थापना की। जातिभेद का ही उदाहरण लीजिए। मानव समाज के विकास के प्रारंभिक चरण में व्यवसाय के आधार पर समाज का विभाजन उस युग की आवश्यकताओं के अनुकूल हो सकता था। इसी कारण ऐसा विभाजन किया गया। यह बात स्वाभाविक थी कि कारीगर वंशानुगत योग्यता और कुशलता से ओतप्रोत होंगे। इस दृष्टि से जातिभेद की कुछ विशेषताएं तो समाज के प्रारम्भिक युग से ही चली आ रही हैं। आर्यों का समाज त्रिवर्ण समाज था और पूर्णरूपेण व्यवसाय पर आधारित था। जब भारत के मूल निवासियों के साथ आर्यों का संघर्ष हुआ तो यह त्रिवर्ण समाज चतुर्वर्ण समाज बन गया। अनार्यों को उनकी शक्ति, एकता और विरोध करने की योग्यता के आधार पर समाज में दर्जा दिया गया। ब्राह्मण जाति स्थिर रही क्योंकि ब्राह्मण वेदों को पढ़ते-पढ़ाते थे और कर्मकाण्ड तथा अनुष्ठान करवाते थे। परन्तु अन्य जातियों में यह स्थिरता नहीं रही। क्षत्रियों को ही लीजिए—वे एकमात्र शासक नहीं थे। महापद्मानंद क्षत्रिय नहीं था और उसके बाद दो हज़ार साल तक क्षत्रियों का कहीं पता नहीं है। बहुत से प्रसिद्ध और शक्तिशाली राजा क्षत्रिय नहीं थे। मौर्य शूद्र था और गुप्त कुल का एक राजा वैश्य जाति का था। वैश्य व्यवसाय में लगे थे और उनमें विभिन्न वर्गों के कई प्रकार के लोग थे। वर्ग ऐसे नहीं थे कि कोई उनमें से छोड़कर दूसरे वर्ग में न जा सकता हो। इतिहासज्ञों का कहना है कि दक्षिण भारत की रेड्डी, वेल्लाल और नायर जैसी कुछ शक्तिशाली जातियों ने चतुर्वर्ण व्यवस्था को कभी स्वीकार नहीं किया। ब्राह्मणों ने उन्हें शूद्र माना परन्तु उत्तर भारत के क्षत्रियों ने उन्हें यथायोग्य सम्मान दिया। ऐसा लगता है कि जो जातियां हिन्दू समाज में आ गईं उन्हें किसी जाति या उपजाति का नाम

दे दिया गया और फिर उन्हें हिन्दुओं में सम्मिलित कर लिया गया। एकमात्र शर्त केवल यह थी कि वह व्यक्ति अपने आपको उस वर्ण का अंग माने और इस प्रकार विभिन्न जातियों की एक अंतहीन श्रृंखला प्रारम्भ हो गई। इन जातियों के अन्तर्गत प्रत्येक वर्ण ने एक ढीलीढाली व्यवस्था का रूप ले लिया।

वास्तविक सामाजिक जीवन वर्ण में नहीं वल्कि जातियों और उप जातियों में प्रकट हुआ। जो मूल निवासी नियमों का उल्लंघन करते थे उन्हें चारों वर्णों से वहिष्कृत करके गांव की सीमा के वाहर भेज दिया जाता था। जो नीची जाति में उत्पन्न हुए उन्हें वहिष्कृत शूद्र की संज्ञा दी जाती थी ऐसे लोगों को 'पंचम' भी कहा जाता था। दासता का ऐसा घृणित उदाहरण विश्व के इतिहास में और कहीं नहीं मिलता। नीग्रो लोग शताब्दियों तक दासता की वेड़ियों में जकड़े रहे परन्तु दास और स्वामी में एक मानवीय सम्वन्ध भी वना रहा। हमारे यहां जिस दास प्रथा का विकास हुआ वह सामूहिक दास प्रथा थी। जिस व्यक्ति का जन्म नीची जाति में होता था वह सभी का दास था। उसपर सारे गांव का नियंत्रण होता था और स्वामी तथा दास के वीच व्यक्तिगत मानवीय सम्वन्धों के विकास का कोई प्रश्न ही नहीं था। नीची जाति में जन्मे लोगों से वड़ी क्रूरता का व्यवहार किया जाता था और हिन्दू धर्म के इतिहास में इससे अधिक लज्जाजनक और कोई अध्याय नहीं है।

परन्तु इस व्यवस्था का विकास धीरे-धीरे हुआ। प्रारंभ में कोई स्पष्ट नियम या कानून नहीं थे और जनसाधारण को इस व्यवस्था की पूरी जानकारी भी नहीं थी। प्रतिवन्ध तो थे परन्तु वे अधिक कठोर नहीं थे।

अन्तर्जातीय विवाह होते थे जिनके कई उदाहरण महाभारत में मिलते हैं। धृतराष्ट्र का मित्र और मार्गदर्शक विचारक तथा दार्शनिक विदुर एक दासी का पुत्र था। स्वयं धृतराष्ट्र और पाण्डु श्याम वर्ण वेदव्यास की संतान थे जो स्वयं एक मछुआरी का पुत्र था। पाण्डवों की वहुत-सी पत्नियां अनार्य थीं। नीची जातियों के वहुत से योद्धा क्षत्रिय राजकुमारियों के स्वयंवरों में भाग लेते थे। वैदिक काल में वहुत से अनार्य राजाओं का उल्लेख आता है।

यह बात सर्वविदित है कि वहुत से कर्मकाण्ड और अनुष्ठान तथा देवता जो अनार्यों के पूज्य थे, उन्हें आर्यों ने स्वीकार कर लिया। अनुलोम विवाहों अर्थात् ऊंची और नीची जाति के वीच होने वाले विवाहों के कारण जाति की शुद्धता नहीं रह गई थी। सच तो यह है कि वैदिक काल की अन्तिम शताब्दियों में अन्तर्जातीय विवाहों की इतनी अधिकता रही कि आज किसी भी जाति के लिए यह दावा करना कठिन है कि वह शुद्ध है। मानवीय मस्तिष्क की रचना का अध्ययन करें या रक्त का, यह पता लगाना कठिन है

कि मूल जाति या वर्ण कौन सा था। वाद में आकर जाति व्यवस्था अधिक रूढ़िवादी और कठोर हो गई। हमारे समाज में कर्म और पुनर्जन्म के विश्वासों का इतना प्रभाव पड़ा कि प्रत्येक व्यक्ति यह सोचने लगा कि समाज में उसका स्थान ईश्वर द्वारा निर्धारित है और उसे आजीवन वैसे ही रहना पड़ेगा। इस प्रकार एक अधिक उन्नत सांस्कृतिक और सभ्य व्यवस्था की ओर बढ़ता हुआ समाज इस सामाजिक बुराई के कारण प्रगति के रास्ते पर ठिठक कर रह गया। समाज में जड़ता आ गई और प्रगति अवरुद्ध हो गई। आरंभिक समाज में व्यक्ति को केवल अपने परिवार और वंश की चिंता होती थी। वंश तो अंततोगत्वा परिवार का ही परिवर्द्धित रूप है। जब कोई व्यक्ति अपने समाज की सीमाओं से वाहर निकलना चाहता है तो उस समाज की सीमाएं भी फैल जाती हैं। इस प्रकार इस समाज का धीरे-धीरे विकास हुआ और 'वसुधैव कुटुम्बकम्'—अर्थात् सारा विश्व एक परिवार के समान है—का सिद्धान्त जड़ पकड़ गया। मानवीय मूल्यों का चरमोत्कर्ष यही सिद्धान्त था। ऐसे विश्वास से उत्पन्न होने वाली सामाजिक चेतना रचनात्मक भावना से इतनी अधिक ओतप्रोत होती है कि वह संकीर्ण दृष्टिकोण वाले समाज में नहीं मिल सकती। प्रत्येक मानव का यह स्वभाव है कि वह अपनी आजीविका कमाता है और अपने परिवार का पोषण करता है। जब व्यक्ति की आत्मा का विकास होता है और वह अपने परिवार, जाति, देश या राष्ट्र की सीमाओं से परे की वात सोचने लगता है तो मानव का परिष्कृत रूप सामने आता है। इसका चरमोत्कर्ष वह है जब व्यक्ति सारे संसार की सारी मानवता को अपना कुटुम्ब मानने लगे।

सभी प्राणियों के लिए प्यार और दया की भावना का संदेश भगवान बुद्ध ने दिया। हमारे साधु-सन्तों और विचारकों ने इस परिस्थिति को भली-भांति समझा और परखा। स्वामी विवेकानंद ने, जो वेदों के ज्ञाता थे, वार-वार इस वात पर बल दिया है कि जाति का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं, वह एक सामाजिक व्यवस्था है। एक समय था जब वर्ण व्यवस्था का कुछ लाभ था परन्तु आज इससे अनिष्ट की गन्ध आती है। इसमें समय के साथ-साथ परिवर्तन हुए। इसी प्रकार की भावनाओं को अन्य विचारकों ने भी व्यक्त किया है। इसी प्रकार हिन्दू श्रुतिकारों ने जब विवाह तथा उत्तराधिकार सम्बन्धी नियमों का विधान किया तो उन्होने धर्म का कोई भी ध्यान नहीं रखा। जाति के अन्तर्गत हिन्दू परिवार आरंभिक युग के परिवार का अवशेषमात्र था। परिवार का मुखिया सर्वोपरि था और सभी शक्तियां उसी में केन्द्रित थीं। पत्नी, पुत्री या किसी पुत्र की विधवा को उत्तराधिकार नहीं दिया गया। इस प्रकार परिवारों और जाति व्यवस्था पर आधारित हिन्दू

समाज पुराणपन्थी बन गया और उसकी प्रगति अवरुद्ध हो गई ।

हमारे कुछ दार्शनिकों और विचारकों ने भौगोलिक एकता का एक निश्चित लक्ष्य रखा है। आदि शंकराचार्य ने देश के चार कोनों में चार शंकराचार्यों की स्थापना की तो यह अखण्ड भारत की संकल्पना का प्रमाण मात्र था, परन्तु आदि शंकराचार्य की संकल्पना सम्भवतः एक धर्म के अनुयायियों की संकल्पना थी, जो शांकर भाष्य पर आधारित है। ऐसा लगता है कि दक्षिण में कन्याकुमारी से लेकर उत्तर में बद्रिकाश्रम और पूर्व में पुरी से लेकर पश्चिम में द्वारिका तक फैले हुए अखण्ड भारत की संकल्पना का प्रादुर्भाव सम्भवतः उस समय हुआ जब द्रविड़ और आर्य संस्कृतियां मिलकर एक हो गईं। अखण्ड भारत की इस संकल्पना की अभिव्यक्ति का श्रेय दक्षिण के लोगों को भी उसी प्रकार है जैसा कि उत्तर के लोगों को। जो हो, इस धार्मिक भावना के उद्‌गम के कई स्रोत हैं। कुल देवता से लेकर ग्राम्य देवता और वहां से चलकर चार धामों तक में हम लोगों का विश्वास रहा। सामाजिक स्तर पर इस भावना का आधार या तो परिवार था या जाति। सच तो यह है कि हिन्दू धर्म की एकता एक संघ की एकता जैसी थी जिसके विभिन्न अंग अपने विश्वासों और आचरण में पूर्णतया स्वतंत्र थे। दूसरे देशों में आरंभिक समाज का विघटन सामाजिक एकता के साथ प्रारम्भ हुआ और राज्य की सीमाओं के प्रसार के साथ-साथ असभ्य समाज एक राष्ट्रीय समाज का अंग बन गया। हमारे धर्म की सीमाएं भी फैली हैं और एकरूपता के कारण स्थायित्व भी आया है। राज्य का आधार भी स्थिर था। भारत ने अपनी विविधता को बनाए रखकर एकरूपता लाने की अनूठी कोशिशें की हैं। यह उसकी दुर्बलता भी थी और शक्ति का स्रोत भी। इस कारण हम आक्रान्ताओं का सामना कर पाए जिन्हें हमने अपने समाज में आत्मसात कर लिया। शकों और हूणों को आत्मसात करने की प्रक्रिया जाति व्यवस्था की सीमाओं में ही हुई। परन्तु इस्लाम ऐसा पूर्ण और अविभक्त एकक था कि उसे इस धार्मिक संघ का अंग नहीं बनाया जा सका। यही बात ईसाई धर्म पर लागू होती है। इस कारण मतैक्य के अभाव और रंगारंग हिन्दू धर्म के उद्‌गम और उसके प्रसार के कारण एक संगठित भारतीय समाज का विकास नहीं हो पाया। इसीके परिणामस्वरूप कोई एकांगी भारतीय राज्य उदित नहीं हुआ। भारतीय समाज केवल भारतीय नहीं था बल्कि सहस्रों समाजों का एकीकरण था और आज भी वही स्थिति है।

3

महात्मा गांधी और सामाजिक परिवर्तन

स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में उदित होने के बाद की इन दो-तीन दशाब्दियों में भारतीयों ने इस बात को महसूस किया है कि हमारा एकीकरण अपूर्ण है। एक ही सरकार के अन्तर्गत रहने में एकता की जो भावना होती है उसके अतिरिक्त इस विचार का विकास करना भी आवश्यक है कि हम एक-दूसरे के हैं और एक ही संगठन के अंग हैं। इस भावना में कोई जातीय तत्व नहीं है, यद्यपि पूर्वाग्रहों से पीड़ित व्यक्ति ऐसा समझ सकते हैं। सुदूर अतीत में बहुत-सा 'अपमिश्रण' और संकरीकरण हुआ है। त्वचा, रंग, बाल, शरीर के ढांचे आदि किसी भी एक बात को देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि किसी क्षेत्र में कोई ऐसी जाति-विशेष रहती है जिसकी नस्ल बिगड़ी नहीं है। इसके अतिरिक्त यह बात निर्विवाद रूप से प्रमाणित हो चुकी है कि योग्यता, घटियापन या बढ़िया होना जातिगत तत्वों पर निर्भर नहीं है। हुआ यह है कि एक जाति, एक धर्म, परम्पराओं, प्रथाओं और सोचने के स्वभाव, भाषा और साहित्य, सांझी सफ़लताओं और दुखों, विपत्तियों आदि जैसी भावनाओं के कारण मानव एक-दूसरे के समीप आते हैं और यही भावनाएं परम्पराओं को समाप्त करती हैं। बहुत समय तक प्रभावी रहने के बाद अब इन भावनाओं का प्रभाव कम हो गया है और वे कड़ियां कमज़ोर पड़ गई हैं जो लोकप्रिय और परम्परागत हिन्दू समाज के विभिन्न तत्वों को परस्पर जोड़े हुए थीं। यह इस कारण हुआ है कि परम्परागत हिन्दू धर्म पृथकता और अनन्यता पर आधारित है। उसमें विघटन और विभाजन के बीज छुपे हुए हैं और उसके लिए यह आवश्यक है कि मानव में समाज के प्रति कृतज्ञता की भावना हो और साथ ही वह समता के सिद्धान्त के प्रति भी कटिबद्ध हो। संविधान में जो उपबन्ध किए गए हैं—उदाहरण के लिए, मूल अधिकार, विवाह तथा उत्तराधिकार सम्बन्धी कानूनों में सुधार, संस्कार के रूप में विवाह के रूप में

परिवर्तन, पिछड़ी जातियों की आर्थिक तथा राजनीतिक प्रगति—उनसे यह व्यवस्था और भी अधिक हिल गई है। सच तो यह है कि लोकप्रिय हिंन्दू धर्म की नींव जाति पर है और वह, अर्थात् जाति की भावना, समाज को नकारने के बराबर है। यदि लोग अपने-अपने वर्ग में ही रहें और सामाजिक स्तर पर एक-दूसरे के निकट न आएं तो संगठित राष्ट्र का निर्माण संभव नहीं है। लोगों में परस्पर रोटी-बेटी का रिश्ता होना चाहिए। यदि वे यही दावा करते रहेंगे कि उनकी जाति अन्य जातियों से ऊंची है तो बात नहीं बनेगी। लोग जन्म के कारण प्रतिष्ठा के सोपानतंत्र से बंधे हैं और वही जूआ उनके गले में पड़ा है।

समाज विज्ञान की दृष्टि से प्रगति का एकमात्र रास्ता सामाजिक कार्य-कलाप के क्षेत्र का विस्तार है। उसके साथ यह भी आवश्यक है कि सामाजिक जीवन की सामूहिक चेतना का उदय हो। सामाजिक कार्यकलाप के सबसे अधिक उदात्त रूप के पीछे यही एक प्रेरणा हो सकती है। परन्तु जाति व्यवस्था के कभी समाप्त न होने वाले जालों में सामूहिक चेतना कहीं खो गई है। जब तक जात-पात की अव्यवस्था और अराजकता का अंत नहीं कर दिया जाता तब तक समांगी, रचनात्मक और सहयोग पर आधारित बिरादरी की स्थापना का कोई नया रास्ता नहीं खोजा जा सकता। मज़े की बात यह है कि जाति प्रथा का उन्मूलन एक ऐतिहासिक आवश्यकता है और इसका अर्थ है सामाजिक चेतना में क्रान्ति। परन्तु धर्म और परम्परा के व्यक्तियों को परस्पर जोड़ने वाले सम्बन्धों के कमज़ोर पड़ जाने से मानसिक दृष्टि से असुरक्षा की भावना उत्पन्न हो गई है। इस कारण लोग जाति और अपने भाषावार क्षेत्र की सांस्कृतिक इकाई से जुड़ गए हैं। जब से चुनाव प्रारम्भ हुए हैं, सभी राजनीतिज्ञों और राजनीतिक दलों ने चुनाव के प्रयोजनों के लिए जाति का लाभ उठाया है। यह तब भी हुआ है जब इन राजनीतिज्ञों और राजनीतिक दलों ने यह बात कही है कि प्रतिष्ठा के आधार पर समाज के इस विभाजन को वे स्वीकार नहीं करते। लेकिन राजनीति के धीरे-धीरे लोकतंत्रीय हो जाने से शोषित जातियों को इस बात का अवसर मिला है कि वे नये गठजोड़ करें और राजनीतिक तथा आर्थिक शक्ति के उस एकाधिकार को समाप्त कर दें जो आज तक तथाकथित ऊंची जातियों के हाथ में रहा है।

भारत के संविधान में वयस्क मताधिकार की व्यवस्था की गई है और अन्य अधिकारों के साथ विशेषाधिकारों का आश्वासन दिया गया है। संविधान के अन्तर्गत यह आवश्यक है कि सारी जनता निर्णय करने की प्रक्रिया में भाग ले। उसमें हमारे भावी सामाजिक विकास का ढांचा उपलक्षित होता है।

संविधान में इस बात की कल्पना की गई है कि परम्परागत समाज व्यवस्था में परिवर्तन होगा और इसी कारण यह वचन दिया गया है कि सभी को समान अवसर प्रदान किए जाएंगे। संविधान में जनता की आकांक्षाओं के क्षितिज को और अधिक फैला दिया गया है। इस सन्दर्भ में सूझ-बूझ रखने वाले सभी व्यक्तियों को यह बात स्पष्ट रूप से समझ में आ जानी चाहिए कि जाति व्यवस्था और लोकतंत्र दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते। मैं पिछले तीस वर्षों से भी अधिक समय से यह कहता आया हूं। मैंने सदा यह कहा है कि जहां हमने राजनीतिक और आर्थिक पहलुओं पर बल दिया है, वहां हमें सामाजिक पहलू पर भी उतना ही बल देना चाहिए। परन्तु बहुत से व्यक्ति यह सोचते हैं कि सामाजिक समस्या यह है कि हरिजनों, पिछड़ी जातियों और महिलाओं के कल्याण के लिए कार्रवाई की जाए। समस्या यह है कि बदलती हुई सामाजिक चेतना को लोकतांत्रिक मूल्यों और संकल्पनाओं के अनुरूप बनाया जाए। समस्या यह है कि क्या किसी जानी-पहचानी व्यवस्था को तिलांजलि दे दी जाए। समस्या यह भी है कि आधुनिक लोकतांत्रिक मूल्यों का चिन्तन और दर्शन के सर्वोत्तम मानकों के साथ तालमेल बैठाया जाए। यह भी आवश्यक है कि उस स्तर पर परिवर्तन लाया जाए जहां समता की ओर पग उठाने की प्रेरणा मिले। इस समस्या को समझने के लिए हिन्दू समाज के स्वरूप को समझना पड़ेगा और उसका मूल्यांकन करना पड़ेगा। प्रश्न यह है कि क्या हम कभी राज्य की आधुनिक संकल्पना के अनुरूप एक राष्ट्र थे ? क्या हिन्दू धर्म में राष्ट्रीयता के सभी तत्त्वों का समावेश था ? क्या यह सच नहीं है कि जब तक भारत ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत एक प्रशासनिक इकाई नहीं बन गया, राष्ट्रीयता एक कोरी कल्पनामात्र ही रही ? क्या हमने अपने इतिहास के प्रारम्भ में ही किसी राष्ट्र का निर्माण किया ? क्या हमारी परम्पराएं ऐसी हैं कि उनकी सहायता से आधुनिक लोकतंत्र का ढांचा खड़ा किया जा सके ? भारत की आध्यात्मिक प्रतिभा क्या है ?

जब हम अपने इतिहास पर दृष्टिपात करते हैं तो पाते हैं कि वैदिक काल में भारत में भिन्न-भिन्न प्रकार की जातियां थीं जो परस्पर मिल-जुल कर रहने की कोशिश करती थीं। उन दिनों त्रिवर्ण समाज था जो मुख्य रूप से कृषि पर आधारित था और जिसका कर्म बड़ा सीधा-सादा था। उन दिनों जो मन्त्र गाये जाते थे। उनमें पुनर्जन्म में विश्वास का कोई पुट नहीं था और न शुद्धि अथवा अशुद्धि की कोई बात थी। उसके साथ ही अत्यधिक विकसित नागर समाज था जिसके सदस्य दस्यु कहलाते थे। इन दो समाजों के अतिरिक्त बहुत से छोटे-छोटे कबीले थे। प्राकृतिक बन्धन या सीमाएं तो थी हीं, उनके अतिरिक्त मानसिक और सामाजिक सीमाएं भी थीं। आर्य लोग गोरे और

काले में बहुत भेद करते थे और 'द्विज' और 'अद्विज' में भी भेद-भाव बरता जाता था। द्विजों को सभी प्रकार के अधिकार प्राप्त थे और अद्विजों को कर्म-काण्ड तथा अनुष्ठानों में भाग लेने का कोई अधिकार नहीं था। इन अधिकारों के कारण आर्य लोग अपने को बाकी की जनसंख्या से ऊंचा मानते थे और इस व्यवस्था में उन्होंने मूल निवासियों को पराजित करके वर्चस्व प्राप्त कर लिया था। इसी काल में एक नई जाति का निर्माण हुआ जिसमें अधिकतर हाथ से काम करने वाले थे और उन्हें शूद्र कहा जाता था। इस प्रकार त्रिवर्ण समाज चतुर्वर्ण समाज बन गया।

इस प्रकार समाज को चार समूहों में बांट दिया गया। यह विभाजन केवल मात्र सैद्धान्तिक था। वर्गों के बजाय अपने आप में ही रोटी-बेटी का सम्बन्ध रखने वाले समूह का सदस्य होना प्रतिष्ठा का प्रतीक बन गया। इस युग में आकर जाति एक यथार्थ का रूप धारण कर गई यद्यपि वर्ण एक काल्पनिक बात थी। जाति पर आधारित समाज का प्रसार इस कारण सम्भव हुआ कि प्रत्येक जाति की सीमाओं पर रहने वाले और स्थानीय समूहों को उसमें समो लिया गया और जाति के सोपान तंत्र में उन्हें निचला दर्जा स्वीकार करने पर विवश किया गया। जो जातियां शक्तिशाली थीं वे इस प्रकार इस समाज में आत्मसात नहीं हुईं क्योंकि अपने संगठित होने के कारण वे आर्यों के दबाव का प्रतिकार करने में सफल हुईं। उन्होंने इस बात को स्वीकार कर लिया कि उनकी स्थिति प्रतिष्ठाहीन अद्विजों की होगी। उस ससय उन्होंने सम्भवत: इस बात को समझ लिया था—यद्यपि स्पष्ट रूप से नहीं—कि ब्राह्मण अधिक ऊंचे हैं यद्यपि किसी अन्य जाति के बारे में यह धारणा नहीं बन पाई। जो समूह दुर्बल थे और जिन्हें 'खण्डित कबीलों' की संज्ञा दी जा सकती है उन्हें इस चतुर्वर्ण व्यवस्था में कोई स्थान नहीं मिला और वे गांव के बाहर बसने पर विवश हुए। वे सामूहिक रूप से समाज के दास थे और यह दासता अमानवीय और व्यक्तिगत तिरस्कार से ओतप्रोत थी। जब ब्राह्मण काम करने की विवशता से बच गए तो इन्होंने ज्ञान प्राप्ति की जिज्ञासा को तुष्ट करने में ही अपना सारा समय बिताया। सृष्टि के प्रादुर्भाव के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार के सिद्धान्तों का प्रतिपादन इस सन्दर्भ में मिलता है। यह एक पूर्व धारणा है कि सृष्टि एकमात्र सिद्धान्त पर आधारित है और यह सिद्धान्त प्रकृति के विभिन्न रूपों में प्रकट होता है। उनमें से प्रत्येक रूप को देवमाला का अंग बनाया गया है। यह धारणा है कि ब्रह्माण्ड के पीछे एक अनुभवातीत शक्ति है। उसका ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा हुई तो तत्व मीमांसा और दर्शन ने जन्म लिया।

इस प्रकार ब्राह्मणों की मेधा उच्च से उच्चतर शिखरों तक पहुंचती रही। हिन्दू तत्व मीमांसा और अधिक सूक्ष्म हो गई। जब यह मान लिया गया कि

दृश्य जगत केवल माया है तो माया और कर्म के सिद्धान्तों ने जन्म लिया। इन सिद्धान्तों के अनुसार मानव शाश्वत शांति की खोज में कुछ समय के लिए माया के इस संसार में आता है। वह मानव की योनि में प्रविष्ट होगा या पशु की योनि में, यह इस बात पर निर्भर है कि उसने अपने पिछले जन्म में किस प्रकार के कर्म किए हैं। मानव के जीवन को चार आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—में विभाजित करके इस सिद्धान्त को इसके चरमोत्कर्ष तक पहुंचाया गया। जीवन का प्रारम्भ भिक्षावृत्ति से होता है और उसका अन्त त्याग है, ऐसा कहा जाने लगा। अपने आप में ही लीन होना आनन्द का चरमोत्कर्ष है और यह सांसारिक जीवन में सम्भव नहीं। जीवन का ध्येय जीवन नहीं, बल्कि त्याग को माना जाने लगा। इस विचार के ऊपर वर्ण व्यवस्था को थोप दिया गया और फिर कर्म के साथ इसका सम्बन्ध बैठाया गया। इसका उद्देश्य मात्र यह था कि नीच और ऊंच के अन्तर को युक्तियुक्त बताया जा सके।

ब्राह्मणों की मेधा से उत्पन्न ये विचार जनमानस तक पहुंचे जिसमें विभिन्न परम्पराओं, प्रथाओं, विश्वासों और विविध प्रकार के विचारों का प्राधान्य था। इसके कारण ऐसा सम्बन्ध स्थापित हुआ जो कोई भी सैक्युलर-विचारक कर नहीं सकता था। विभिन्न प्रकार के विश्वासों का एक ताना-बाना तैयार हो गया और एक राष्ट्र की नहीं तो एक राज्यतंत्र की नींव पड़ गई। संश्लेषण की इस प्रक्रिया में आर्यों का उतना ही योगदान था जितना कि द्रविड़ विचार सम्प्रदाय का। इसका प्रमाण सिन्धु घाटी के धार्मिक विचारों और रूपों में मिलता है जो आज भी हिन्दू धर्म का अंग है। इस आर्य-द्रविड़ संगम में और कई धाराएं आ मिलीं जिनके परिणामस्वरूप उस सभ्यता का उदय हुआ जिसे भारतीय सभ्यता कहा जा सकता है। उत्तर भारत का एक क्षेत्र, जिसे ब्रह्मावर्त कहा जाता था, फैलकर भारत बना जो कामरूप से कच्छ और हिमालय से कन्याकुमारी तक फैला हुआ था। यहां सांझी सभ्यता हमें अपनी थाती के रूप में मिली।

जब समाज में गतिशीलता आती है तो वह और अधिक जटिल होने लगता है। बाह्य तथा आन्तरिक शौच तथा अशौच के ब्योरेवार नियमों का विधान होता है। वर्ण धर्म में प्रत्येक जाति के कर्त्तव्यों का विधान है। विवाहों, सम्पत्ति और परस्पर मेल-जोल के बारे में विस्तृत नियम बनाए जाते हैं। एक-दूसरे से किस प्रकार मिलना है, इस बारे में जो प्रतिबन्ध लगाए जाते हैं उनका परिणाम यह होता है कि बहुत से कार्य इस उद्देश्य से किए जाने लगते हैं जिससे कि ऊंचे और नीचे लोग कभी आपस में न मिल पाएं। नीची जाति के लोगों को कुओं से पानी नहीं लेने दिया जाता और न वे

स्कूलों या मन्दिरों में प्रवेश कर सकते हैं। उनके कर्त्तव्य और कृत्य सीमित कर दिए जाते हैं। उनके बच्चों को उस शिक्षा से वंचित किया जाता है जिसके माध्यम से वे समाज में ऊंचा उठ सकते हैं। जाति व्यवस्था का संसार एक सुव्यवस्थित संसार है जिसमें ऐसा सोपानतंत्र है जिसमें मानव सभी जीवों से ऊपर माना गया है और ब्राह्मण अन्य सभी मानवों से ऊपर। ब्राह्मण मृत्यु के उपरांत मोक्ष का अधिकारी माना जाता है परन्तु जो उसके नीचे हैं वे केवल एक पग ऊपर पहुंचने की आकांक्षा ही कर सकते हैं। वर्ण धर्म में व्यक्ति पर जो कर्त्तव्य लादा जाता है उसके अनुसार उसे वैसा ही आचरण करना है जो इस सोपानतंत्र में उसके समूह के लिए ब्राह्मणों द्वारा निश्चित किया गया है। यह कहा जाता है कि यदि वह अपने कर्त्तव्य का पालन करेगा तो अगले जन्म में उसे इस जन्म की अपेक्षा अधिक ऊंचा स्थान प्राप्त होगा। एक यह धारणा है कि वर्ण व्यवस्था कर्म के रहस्यमय सिद्धांत को कार्य रूप में परिणत करने का माध्यम मात्र है। यद्यपि यह धारणा तर्कसंगत नहीं है परन्तु फिर भी इसको चुनौती नहीं दी गई और यह अभी तक मान्य बनी हुई है।

इस बात को समझा नहीं गया कि ये विश्वास और धारणाएं एक अनूठी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था की उपज हैं, जो एक विशेष ऐतिहासिक संदर्भ में उत्पन्न हुई थी। इनका उद्गम कोई विशेष जातिगत मनोवैज्ञानिक विशेषता नहीं है। इन सभी धारणाओं का एक सामाजिक प्रयोजन है। वे स्थायित्व में सहायक हैं और प्रतिस्पर्द्धा का वर्जन करती हैं। इनके परिणामस्वरूप संतोष और सामंजस्य की उत्पत्ति होती है। इनका विधान ईश्वर ने नहीं किया और न ही इसका कोई प्रमाण मिलता है, परन्तु कहा यही जाता है। ये विचार और भ्रान्त धारणाएं हिन्दू जीवन का अभिन्न अंग बन गई हैं और हमारे मानस के अन्तरतम में इतना अधिक घर कर गई हैं कि इनका प्रभाव अभी तक है जबकि जीवन की भौतिक परिस्थितियां पूर्णतया बदल चुकी हैं।

महावीर और गौतम बुद्ध ने ब्राह्मणों की परम्परा निष्ठा पर आपत्ति की जो अनुष्ठानों और कर्मकाण्ड पर आधारित थी और इस बात पर बल दिया कि इस थोथे कर्मकाण्ड की अपेक्षा शुद्ध आचरण अधिक महत्त्वपूर्ण है। परन्तु हिन्दू मानस पर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। रामानंद, कबीर, नानक और रायदास जैसे सन्तों ने बार-बार इस बात पर बल दिया कि मानव ईश्वर का ही रूप है और उसे उसके दर्जे से वंचित करना पाप है। परन्तु इनके प्रयत्न विफल हुए। स्वामी विवेकानंद ने इस बात पर बल दिया है कि हिन्दू समाज की विशेषताएं—वर्ण व्यवस्था, संयुक्त परिवार, उत्तराधिकार और

उससे उत्पन्न सम्बन्ध—धार्मिक प्रथाएं नहीं बल्कि सामाजिक और विधि मान्य प्रथाएं हैं। उन्होंने यह भी लिखा है कि, "बुद्ध से लेकर राजा राममोहन राय तक प्रत्येक व्यक्ति ने यह समझने की भूल की है कि वर्ण व्यवस्था धार्मिक प्रथा है। पण्डे लोग जो भी कहते रहें पर वर्ण व्यवस्था एक सामाजिक प्रथा है, जिसका आज कोई उपयोग नहीं रहा और जिसने भारत के वातावरण में दुर्गन्ध मात्र फैलाई हुई है।" स्वामीजी ने कर्मकाण्ड, अनुष्ठानों, अर्थहीन उत्सवों की आलोचना की है और यह कहा है कि पुरानी रूढ़ि अपना अर्थ खो चुकी है। उनका कहना है कि बदलते हुए युग के साथ सामाजिक संगठन में भी परिवर्तन होना चाहिए। राजा राममोहन राय ने हिन्दू धर्म को एक नया अर्थ देने की चेष्टा की। उन्होंने पश्चिम के क्रान्तिकारी विचारों और उपनिषदों के दर्शन का एक संश्लेषण प्रस्तुत किया। स्वामी दयानंद ने वेदों से सारे विश्व के मानवों के परस्पर भाईचारे की प्रेरणा प्राप्त की। ईश्वर और स्वतंत्र समाज के प्रति उनका दृष्टिकोण तत्व मीमांसा की लीक से हट कर था। लोकमान्य तिलक ने जब जनमानस का आह्वान किया तो उसका आधार स्थितप्रज्ञ, निष्काम कर्म और लोकसंग्रह था। परन्तु हिन्दू समाज बदल नहीं पाया। परम्पराओं और रूढ़ियों का गढ़ अक्षुण्ण बना रहा। हिन्दू समाज की इस दुर्बलता पर दृष्टिपात करें तो ऐसा लगता है कि यह साम्राज्यवाद से भी पहले की चीज़ है और इसीने सम्भवतः साम्राज्यवाद को आकृष्ट किया और उसे सशक्त भी किया। इस दुर्बलता का स्रोत था कठोर वर्ण व्यवस्था, क्षेत्रवाद, सामाजिक अन्याय और अज्ञान। इस सन्दर्भ में बहुत से सुधारक राजनीतिक स्वतंत्रता की बात भी सोच नहीं पाए। परन्तु उन्हें यह विचार जरूर आया कि हिन्दू समाज को एक विस्तृत संश्लेषण की आवश्यकता है जिससे कि उसकी निष्ठा ऊंचे सिद्धान्तों में हो। लेकिन हुआ केवल इतना कि ये सुधारक नये मतमतान्तरों को ही जन्म दे पाए। इनमें से कुछ तो फिर रूढ़िवादी हिन्दुओं में समा गए। कुछ अन्य—जैसे सिख धर्म—अलग हो गए और इस कारण देश के राजनीतिक जीवन में एक नये तत्व का समावेश हुआ।

जब मोहनदास कर्मचन्द गांधी अपने संयम, विनयशीलता और साधु गुणों को लेकर भारतीय क्षितिज पर उभरे तो यह स्थिति थी जिसका वर्णन हम ऊपर कर आए हैं। करोड़ों लोगों को गांधीजी उन ऋषियों जैसे लगे जिनकी चर्चा हमारे धार्मिक ग्रन्थों में की गई है। कइयों को तो वे ईश्वर का अवतार मालूम हुए। गांधीजी ने इस बात को महसूस किया कि हमारी गुलामी का कारण अंग्रेजों की बन्दूकें नहीं बल्कि हमारी अपनी त्रुटियां हैं। वह श्रद्धालु हिन्दू थे और सच्चे अर्थों में धर्म में विश्वास

रखते थे। परन्तु उनका हिन्दू धर्म विशालहृदय युक्त था। गांधीजी का कहना था कि जीवन अविभाज्य है और उसे अलग-अलग अंगों में नहीं बांटा जा सकता। स्मृतिकारों, कौटिल्य और मैक्यावेली के विचारों से प्रभावित और आधुनिक राजनीतिक विचारकों के सिद्धान्तों की शिक्षा पाए हुए व्यक्तियों को उनके विचार बिल्कुल नये लगे। आधुनिक राजनीतिक चिन्तन में तो धार्मिक विषयों को सांसारिक विषयों से अलग रखा जाता है और राजनीति एक अलग कार्यकलाप है। उनके लिए गांधीजी के विचार बिल्कुल नये थे। गांधीजी का विश्वास था कि कथनी और करनी में कोई अन्तर नहीं रखना चाहिए। उन्होंने सदा इस अन्तर को मिटाने का प्रयत्न किया। वह जिस बात पर विश्वास रखते थे उसी पर चलते भी थे। उनका विश्वास था कि राजनीति और नैतिकता एक ही वस्तु हैं। उनकी बात को जनसाधारण आसानी से समझ सकते थे। उनकी प्रत्येक बात से विश्वास, साहस और सहृदयता टपकती थी। उनके विचारों का सार दो शब्दों—सत्य और अहिंसा—में है। गांधीजी ने कहा है: "कहा जाता है कि ईश्वर सत्य है। सम्भवतः यह कहना अधिक अच्छा है कि सत्य ही ईश्वर है। अहिंसा मानव का धर्म है, बिल्कुल वैसे ही जैसे कि हिंसा पशुओं का। अच्छे साध्य के लिए भी बुरे साधनों का प्रयोग उचित नहीं है। वास्तव में हमारे शत्रु हमारे अपने भय, लोलुपता और अहंकार हैं। हम अपने को बदलकर ही दूसरों को बदल सकते हैं। परिवार, सत्य, स्नेह और दया के नियम समूहों, देशों और राष्ट्रों सभी पर लागू होते हैं।" राजनीति में ये विचार पूर्णतया अव्यावहारिक माने जाते थे। परन्तु इसके बावजूद गांधीजी ने अपने आचरण में इन्हीं सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया।

गांधीजी ने एक समन्वित और अपने आप में परिपूर्ण विचारतंत्र का प्रतिपादन करने को कभी महत्त्व नहीं दिया। उनके विचार विकास की एक प्रक्रिया में से निकले और वे अपने अनुभव के प्रकाश में अपने विचार बदलते रहे या उनका परिशोधन करते रहे। वे अपनी अन्तरात्मा की आवाज़ सुनते थे, मानवता के प्रेम से ओतप्रोत थे और असंगतियों से डरते थे। जब उन्होंने यह कहा: "कि स्वराज्य तो ईश्वर भी नहीं दे सकता, उसके लिए परिश्रम करना पड़ेगा"—तो उन्होंने धर्म पर आधारित दृष्टिकोण का परित्याग किया, परन्तु जब वह राजनीतिक निर्णयों के सन्दर्भ में यह कहते थे कि "मैं तो ईश्वर के हाथों में हूं"—तो वह अपने आचरण से अपने कथन की पुष्टि करते थे। गांधीजी ने कहा कि बिहार में जो भूचाल आया वह छूआछूत के पाप का ईश्वरीय दण्ड था इसपर टैगोर ने यह कहकर आपत्ति की कि यदि ऐसी घटनाओं का इस प्रकार का अवैज्ञानिक कारण बताया

जाएगा तो तर्क कहां रहेगा। परन्तु गांधीजी को अपने कथन पर कोई पश्चात्ताप नहीं था और उन्होंने टैगोर के उत्तर में यह कहा कि मानव अभी ईश्वरीय कथन को समझ नहीं सकता। जब लोग उनके पांव छूते थे तो वह कांप उठते थे। एक बार उन्होंने यह कहा कि जब लोग 'महात्मा गांधी की जय' का नारा लगाते हैं तो यह तीर की तरह मेरे मन में चुभ जाता है। 8 मई, 1933 को उन्होंने 21 दिन का व्रत प्रारम्भ करते समय (दलित वर्गों के लिए यह उनका दूसरा व्रत था) उन्होंने कहा कि मैं अपनी अन्तरात्मा की आवाज़ से प्रेरित होकर अनशन कर रहा हूं। उन्होंने कहा, "कल रात मैं सोया तो मेरा अनशन प्रारम्भ करने का कोई मंशा नहीं था परन्तु आधी रात को मुझे किसीने जगाया और एक आवाज़ आई—मेरे अन्तर्मन से या बाहर से, यह मैं नहीं जानता—'तुम व्रत रखो'। मैंने पूछा 'कितने दिन तक'। उत्तर मिला 'इक्कीस दिन'। 'मैं कब प्रारम्भ करूं' मैंने पूछा, तो उत्तर मिला 'कल ही'।"

निर्णय करने के बाद वह फिर सो गए। एक बार वह एक गांव में गए तो वहां के लोगों ने उन्हें बताया कि उनका आगमन इतना शुभ है कि गांव का अंधा कुआं फिर पानी से भर गया है। उनको फटकारते हुए गांधीजी बोले, "आप मूर्ख हैं। यह तो एक संयोग की बात है। यदि कोई कौवा ताड़ के पेड़ पर बैठे और उसी समय वह पेड़ गिर पड़े तो क्या तुम यह कहोगे कि कौवे ने उस पेड़ को गिराया है?" गांधीजी की सबसे उत्कट इच्छा यह थी कि उन्हें ईश्वर के दर्शन प्राप्त हों और मोक्ष मिले। उन्होंने अपनी जीवनी में इस बात को स्वीकार किया है। परन्तु उनकी यह इच्छा सारी मानवता के लिए प्रेम के रूप में प्रकट हुई और उनकी आकांक्षा यह थी कि सभी की आंखें पोंछ डालें। वह मार्क्स के इस विश्लेषण से सहमत प्रतीत होते थे कि वाणिज्य, आर्थिक जीवन, उत्पादन तथा वितरण के तरीकों से राजनीति और नैतिकता पर प्रभाव पड़ता है और सामान्य रूप से सामाजिक जीवन भी इन कार्यकलापों से प्रभावित होता है। परन्तु उन्होंने इस बात को कभी स्वीकार नहीं किया कि एक नई सामाजिक व्यवस्था का निर्माण पुरानी व्यवस्था का सर्वनाश करके ही किया जा सकता है। और न कभी यह माना कि जीवन में केवल आर्थिक तत्वों का ही महत्त्व है। अहिंसा को उन्होंने नीति के रूप में स्वीकार नहीं किया बल्कि इसलिए किया कि उनका विश्वास था कि यह हिंसा से अधिक प्रभावी होगी। उनका विश्वास था कि नैतिक, मानसिक और बाह्य साधनों के प्रयोग से (सत्याग्रह के रूप में) समाज के आचरण को नियमित किया जा सकता है। उनका कहना था कि हिंसा या दबाव डालने की अपेक्षा, जैसा कि किसी हड़ताल के माध्यम से डाला जा

सकता है, सत्याग्रह का रास्ता अधिक श्रेयस्कर है। उन्होंने प्रेम और सत्य के माध्यम से इतिहास को एक नया मोड़ देने का बीड़ा उठाया। गांधीजी नैतिकता को राजनीति से अधिक प्रभावी बनाने में सफल हुए।

गांधीजी 1920 से प्रारम्भ होने वाले दो दशकों में ऐसे रास्ते की खोज में थे जिसपर चलकर जनता को एक किया जा सके। वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने इस बात को महसूस किया कि भारत में भाषावार क्षेत्र, जर्मनी और रूस जैसे, अधिक हैं परन्तु संयुक्त राज्य अमरीका के राज्यों से मेल नहीं खाते। गांधीजी का कहना था कि एक संश्लिष्ट, शक्तिशाली और सभी प्रकार के दबावों से मुक्त राष्ट्रवाद इन क्षेत्रों की परम्पराओं की रक्षा कर पाएगा। जब उनकी भाषाओं का विकास होगा और राष्ट्रीय हितों की सर्वोपरिता को स्वीकार कर लिया जाएगा तो राष्ट्र इस बात पर प्रसन्न होगा कि ये क्षेत्र अपनी-अपनी भाषाओं पर गर्व करते हैं। गांधीजी स्वयं भारतीय राष्ट्रवाद का प्रतीक बन चुके थे और उन्हें विश्वास था कि यह एक यथार्थ है जिसपर कोई उंगली नहीं उठा सकता। उनका विचार था कि राष्ट्रभाषा और भाषावार प्रान्तों के बीच कोई टकराव नहीं है और ये केवल एक-दूसरे के न केवल पूरक हैं बल्कि अनिवार्य भी।

एक और साधन जिसके माध्यम से गांधीजी राष्ट्र की एकता को सुदृढ़ करना चाहते थे, छुआछूत का उन्मूलन था। वह चतुर्वर्ण समाज की संकल्पना को भी पुनर्जीवित करना चाहते थे। उनका कहना था कि सभी मानव समान हैं परन्तु उनके स्वभाव, दृष्टिकोण और रवैये विविध प्रकार के होते हैं। उनका आध्यात्मिक विकास भी भिन्न-भिन्न होता है। गांधीजी का कहना था कि इन अन्तरों को संघर्ष और प्रतिस्पर्द्धा की प्रवृत्तियों के परिणाम-स्वरूप अधिक उत्कट न बनने दिया जाए क्योंकि अधिक अच्छा यही होगा कि चतुर्वर्ण व्यवस्था और आनुवंशिकता को प्रकृति का नियम मान लिया जाए और यह सोचा जाए कि सामाजिक जीवन का नियमन करने वाला सर्वोच्च सिद्धान्त यही है। उन्होंने अपने पत्रों 'यंग इण्डिया' और बाद में 'हरिजन' में बार-बार इस विषय पर अपने विचार व्यक्त किए। उन्होंने लिखा : "छूआछूत एक बहुत हानिकारक और भयंकर दानव है।" अछूतों के बारे में गांधीजी ने लिखा, "समाज उनका बहिष्कार करता है, आर्थिक दृष्टि से उनकी दशा और भी खराब है और धार्मिक दृष्टि से उन्हें उन स्थानों में प्रवेश की अनुमति नहीं जिन्हें ईश्वर के निवास की संज्ञा दी गई है···यदि हम छुआछूत को नहीं मिटाएंगे तो स्वयं मिट जाएंगे···चार वर्ण आधारभूत, प्राकृतिक और आवश्यक हैं परन्तु असंख्य जातियां तथा उप-जातियां अभिशाप मात्र हैं···वर्ण व्यवस्था के कारण मानव की ऊर्जा का

परिरक्षण होता है और आर्थिक दृष्टि से यह उचित ही है...यह (वर्ण व्यवस्था) आत्म-संस्कृति की विभिन्न व्यवस्थाओं का वर्गीकरण है। सामाजिक स्थायित्व और प्रगति का सर्वोत्तम समायोजन इसीके माध्यम से होता है। इसमें इस बात की चेष्टा की जाती है कि परिवारों को जीवन की एक विशेष प्रकार की शुद्धता के परिवेश में लाया जाए। इसके अनुसार कोई परिवार स्वयं यह निश्चय नहीं कर सकता कि वह किस वर्ग में आता है और न कुछ व्यक्ति मिलकर ही ऐसा निर्णय कर सकते हैं। इसका मूलभूत सिद्धान्त आनुवंशिकता है और क्योंकि यह संस्कृति की एक व्यवस्था है और इसमें यह नहीं कहा जा सकता कि यदि कोई व्यक्ति या परिवार अपनी जीवन शैली को बदलने का निर्णय करने के बावजूद उसी जाति या वर्ग में रहने पर विवश हो, तो उसमें कोई अन्याय है। सामाजिक जीवन में परिवर्तन बहुत धीरे-धीरे आता है और जाति व्यवस्था के कारण नये समूह जीवन के परिवर्तनों के अनुरूप बनने में सफल हुए हैं। ये परिवर्तन चुपचाप और सरलता से हो जाते हैं, बिल्कुल वैसे जैसे मिट्टी के ढेले का रूप बदल जाता है। इससे अधिक सुसंगत समायोजन की कल्पना करना कठिन है। जाति का अर्थ यह नहीं कि कोई ऊंचा या नीचा है। यह तो विभिन्न दृष्टिकोणों और उनके अनुरूप जीवन शैलियों का विज्ञान मात्र है। जाति, संस्कृति की विभिन्न व्यवस्थाओं का वर्गीकरण है। यह परिवार के सिद्धान्त का ही दूसरा रूप है। दोनों पर नस्ल और आनुवंशिकता के सिद्धान्त लागू होते हैं।

"आर्थिक दृष्टि से जाति का महत्त्व बहुत था। इसके परिणामस्वरूप पिता अपना कौशल पुत्र को देता था और प्रतिस्पर्द्धा सीमित हो जाती थी। निर्धनता से परित्राण भी इसी व्यवस्था से प्राप्त होता है। इसमें एक लाभ यह है कि कारीगरों के व्यावसायिक संघ बन जाते थे। भारतीय समाज में समायोजन का प्रयोग जाति व्यवस्था के रूप में हुआ। यदि हम यह प्रमाणित कर सकें कि यह सफल रही है तो हम सारे विश्व को यह व्यवस्था अपनाने के लिए कह सकते हैं क्योंकि यह हृदयहीन प्रतिस्पर्द्धा का एक इलाज हो सकती है।...वर्ण व्यवस्था तो मानवी स्वभाव में निहित है। हिन्दू धर्म में इसका विकास करके इसे विज्ञान का रूप दे दिया गया है...आज जातियों का जो रूप है वह एक विकृत रूप है परन्तु इस विकृति को समाप्त करने की ललक में हमें जाति व्यवस्था को समाप्त नहीं करना चाहिए...इसका आविष्कार किसी मानव ने नहीं किया बल्कि यह तो प्रकृति का अटल नियम है। यह एक प्रवृत्ति का स्वीकार मात्र है जो प्रकृत्ति में विद्यमान है, बिल्कुल वैसे ही जैसे न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण का नियम।"

महात्मा गांधी ने वर्ण और जाति शब्दों का प्रयोग एक-दूसरे के पर्याय के

रूप में किया है। उनका विश्वास था कि सभी व्यक्तियों को चार मुख्य वर्गों में से किसी एक में रखा जा सकता है। और ये वर्ग व्यवसाय पर आधारित हैं जैसे पाठन, प्रतिरक्षा, उत्पादन, और शारीरिक श्रम। गांधीजी ने लिखा : "हम इसी वर्ण व्यवस्था को पुनर्जीवित करने की चेष्टा कर रहे हैं। यह तो डेम पार्किंगटन जैसी बात है जिसने मानचित्र सामने रखकर अतलांतिक समुद्र को पीछे धकेलने की चेष्टा की।" जहां तक वर्ण व्यवस्था के पुनर्जीवित किए जाने की बात है, गांधीजी की भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई है।

यद्यपि गांधीजी जाति तथा वर्ण व्यवस्था के बारे में अपनी धारणाओं को विस्तृत रूप से प्रकट करते रहे और यह आशा करते रहे कि हिन्दुओं की अन्तरात्मा नए विचारों के अनुकूल बनेगी। उनके विचार से सबसे आवश्यक काम तो छुआछूत का उन्मूलन था। 20 सितम्बर, 1932 को उन्होंने मैकडानेल्ड के निर्णय (कम्युनल अवार्ड) के विरोध में अनशन प्रारम्भ किया जो कि एक ऐतिहासिक घटना थी। शाहाबाद के कांग्रेस जनों ने महात्मा गांधी को तार भेजकर सूचना दी थी कि मैं पूना में होने वाली बातचीत में दलित वर्गों का प्रतिनिधित्व करूंगा। अपने बड़े भाई की बीमारी के कारण मैं नहीं जा पाया और क्रोध में आकर महात्माजी को एक पत्र लिखा जिसमें मैंने यह कहा कि उन्हें गोलमेज सम्मेलन में हरिजनों के लिए स्थानों का आरक्षण स्वीकार कर लेना चाहिए था और इस प्रयोजन के लिए अनशन की आवश्यकता नहीं है। उनके सचिव ने मुझे उत्तर दिया कि गांधीजी कहते हैं कि हिन्दुओं और अछूतों दोनों के लिए किसी भी प्रकार का अलगाव हानिकारक है।

गांधीजी को आरक्षण स्वीकार करने में कोई प्रसन्नता नहीं हुई, यद्यपि उन्होंने यह बात स्पष्ट कर दी कि अनशन आरक्षण के विरोध में नहीं था। मैकडानेल्ड ने अपने निर्णय में जातियों तथा सम्प्रदायों के आधार पर चुनाव की जिस व्यवस्था का सुझाव दिया था उसे गांधीजी स्वीकार नहीं कर पाए और जब पूना समझौते के अन्तर्गत यह व्यवस्था समाप्त कर दी गई तो गांधीजी को बड़ी प्रसन्नता हुई। गांधीजी के व्रत से हिन्दू समाज का मन उद्वेलित हो गया। परन्तु छुआछूत समाप्त नहीं हुई और न हो सकती थी। अलगाव और दमन का अन्त भी नहीं हुआ। केवल इतना हुआ कि छुआछूत को जनता की जो स्वीकृति प्राप्त थी, वह छिन गई। "एक लम्बी श्रृंखला टूट गई जो अतीत के गर्त से प्रारम्भ हुई थी। उसकी कुछ कड़ियां बच गईं परन्तु कोई भी उन्हें फिर से जोड़ नहीं सकता था।"

भावात्मक उद्वेलन की अभिव्यक्ति इस प्रकार हुई कि 30 सितम्बर, 1932 को छुआछूत विरोधी संघ की स्थापना की गई और बाद में जब गांधीजी ने इन लोगों को हरिजन की संज्ञा दी तो उसका नाम बदलकर

हरिजन सेवक संघ कर दिया गया। सवर्ण हिन्दुओं में से बहुत से इस बात से खुश नहीं थे। पूना समझौते के विरुद्ध एक अखिल भारतीय आन्दोलन चलाया गया जिसका उद्देश्य यह था कि इस समझौते के उपबन्धों को भारत सरकार अधिनियम का अंग न बनाया जाए।

जिन दिनों मैं पढ़ता था, तभी से मुझे अपनी जाति के बहन-भाइयों के भविष्य की चिन्ता थी। मैं यह कहता रहा था कि छुआछूत इन लोगों को उचित अवसरों से वंचित करती है और इसके कारण हिन्दू समाज की सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था में दासता का पुट आ जाता है। इसलिए मेरा यह विश्वास था कि छुआछूत तभी समाप्त हो सकती है जब सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन किया जाए। इसके लिए यह आवश्यक है कि सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से इतनी बड़ी क्रान्ति लाई जाए जो अब तक संसार में कहीं नहीं हुई। बिहार में छुआछूत विरोधी संघ का पहला सम्मेलन हुआ तो मुझे यह देखकर बड़ी उलझन हुई कि सभी वक्ताओं ने उपदेश दिए। उन व्यक्तियों पर, जो किसी ज़माने में सांस्कृतिक दृष्टि से समान थे, अत्याचार करने के बाद और उन्हें दास बनाने और मानव के स्तर से भी नीचे गिराने के बाद इस प्रकार के उपदेश देना कि मांस-मदिरा त्यागो और शुद्ध जीवन व्यतीत करो, जले पर नमक छिड़कने के बराबर था। इसपर मैंने क्रोध में आकर कुछ साफ-साफ बातें कहीं जिससे अधिकतर श्रोता अचम्भे में पड़ गए। डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद भी उस सभा में थे और मेरी बातें सुनकर वे विचारमग्न हो गए थे। अन्य लोगों के समान उन्होंने मेरे भाषण पर कोई टिप्पणी नहीं की। बाद में उन्होंने मुझसे कहा कि मैं बिहार के लिए भी कुछ समय दूं। उसी समय मैंने कलकत्ता न जाने का निर्णय किया और बिहार के छुआछूत विरोधी संघ का सचिव बन गया। यह मेरे सार्वजनिक जीवन का सूत्रपात था। संघ को जिस ढंग से कार्य करना पड़ता था उससे मैं संतुष्ट नहीं था। बड़े दुख से मैंने इस बात को महसूस किया कि गांधीजी के अनशन से केवल भावनात्मक उत्साह उत्पन्न हुआ है लेकिन कोई मानसिक या सामाजिक क्रान्ति नहीं हुई और न मूर्तिभंजन जैसा कोई उत्साह पैदा हुआ है। केवल गरीब अछूतों के लिए दया की भावना से प्रेरित होकर उनका कल्याण करने की भावना जागी है।

अगस्त, 1933 में जेल से रिहा होने के बाद गांधीजी ने छुआछूत के विरुद्ध फिर अपना आन्दोलन प्रारम्भ किया। मई, 1933 में उन्होंने हिन्दुओं की अन्तरात्मा जगाने के लिए 21 दिन का अनशन रखा था। लोगों की अपार भीड़ गांधीजी की प्रशंसा में नारे लगाती थी लेकिन उनका मन बदला नहीं था। धर्मान्ध लोगों ने कई स्थानों पर काली झण्डियों से गांधीजी के विरुद्ध

प्रदर्शन किए। उन्हीं दिनों गांधीजी ने हरिजनों को 'गाय' की संज्ञा दी। मैंने उन्हें लिखा कि उनके इस कथन से दया की बू आती है। गांधीजी का उत्तर था कि गाय तो शालीनता और कष्ट सहने का प्रतीक है और उनका मंशा किसीका दिल दुखाने का नहीं था।

मार्च, 1934 में मैं गांधीजी के साथ बिहार के दौरे पर गया। चारों ओर भूचाल की विनाश लीला दिखाई पड़ रही थी। गांधीजी एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते और लोगों को समझाते तथा सान्त्वना देते। बक्सर में गांधीजी की सभा पर पथराव किया गया परन्तु सभा हुई। इससे बनारस के एक पण्डित लाल शास्त्री को बड़ा क्षोभ हुआ जिसे पूना समझौते के विरोधियों ने खड़ा किया था। यह व्यक्ति गांधीजी की कार के आगे लेट गया और उसने कार को आगे नहीं बढ़ने दिया। गांधीजी मोटर से उतरकर पैदल ही चल पड़े। आरा और पटना में भी उनका विरोध हुआ परन्तु किसीने पत्थर नहीं फेंके। लेकिन जब हम रात को दो बजे देवघर पहुंचे तो देखा, स्थिति बड़ी तनावपूर्ण है। रेलवे स्टेशन पर दो समूह इकट्ठे थे जिनमें से एक तो समझौते का विरोधी था और दूसरा उसका समर्थक। दोनों में न केवल परस्पर हाथा-पाई हुई बल्कि लाठियों का प्रयोग भी हुआ। जिस कार में गांधीजी को ले जाना था उसका पीछे का शीशा तोड़ दिया गया। परन्तु गांधीजी विचलित नहीं हुए। वे सोए भी नहीं। उन्होंने विनोदानंद झा से, जो स्वयं देवघर के पण्डा हैं, कहा कि मैं अगले दिन पैदल ही सभा स्थल तक जाऊंगा। गांधीजी ने किसीके भी कहने से अपना निर्णय नहीं बदला। सारे रास्ते के दोनों ओर स्वयंसेवक खड़े हो गए ताकि गांधीजी को विरोधियों से बचा सकें। उनके साथ ठक्कर बापा, विनोदानंद झा और मैं सभास्थल तक पैदल गए। स्वयंसेवकों ने लाठियों से हमारे लिए जाने का रास्ता बनाया। जब सभा प्रारम्भ होने को थी तो थोड़ी-सी लाठी चली परन्तु गांधीजी की उपस्थिति ने बड़ा काम किया। लुच्चे लोग भी शांत हो गए और धैर्यपूर्वक बैठे रहकर गांधीजी का भाषण सुनते रहे। जून, 1935 में जब पूना समझौता भारत सरकार अधिनियम का अंग बना लिया गया तो उसके विरुद्ध चलने वाला आन्दोलन समाप्त हो गया। गांधीजी मरते दम तक छुआछूत विरोधी आन्दो-लन चलाते रहे।

गांधीजी ने जिस आन्दोलन का सूत्रपात किया था उससे सार्थक समाज सुधार हुआ। उत्तर भारत में, जहां स्त्रियां बहुत अधिक पर्दा करती हैं, वे बड़ी संख्या में उनकी सभाओं में आने लगीं। उनमें से बहुत-सी महिलाएं आन्दोलन में आ गईं और जेल गईं। आज भारत में दुनिया भर के देशों की अपेक्षा अधिक महिला विधायक हैं और मैं समझता हूं कि इसका श्रेय गांधीजी को

जाता है। परन्तु गांधीजी ने जातिप्रथा पर प्रत्यक्ष कुठाराघात नहीं किया। प्रारम्भ में उनका यह विचार था कि यदि जाति प्रथा में सुधार लाया जाए तो हिन्दू धर्म को एक राष्ट्र में परिवर्तित किया जा सकता है। परन्तु गांधीजी को अंततोगत्वा निराशा का ही सामना करना पड़ा और वह इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि जाति को समाप्त करना ही पड़ेगा। बाद में उन्होंने लिखा: "जाति प्रथा को समाप्त करने का सबसे अधिक प्रभावोत्पादक और शीघ्र फलदायी तरीका यह है कि सुधारक स्वयं इस प्रकार का आचरण करे मानो जाति है ही नहीं और यदि उन्हें इस आचरण में दुख भी उठाना पड़े तो सहर्ष उसे स्वीकार करे। वांछनीय यह है कि सवर्ण लड़कियां हरिजनों से विवाह करें। यह उससे कहीं अधिक अच्छा है कि हरिजन लड़कियां सवर्णों से विवाह करें। यदि मेरा बस चले तो मैं अपने प्रभाव में आने वाली सभी सवर्ण हिन्दू लड़कियों को इस बात के लिए तैयार कर लूं कि वे हरिजनों से विवाह करें।" एक और अवसर पर उन्होंने कहा कि छुआछूत तभी समाप्त हो सकती है जब जाति का सर्वथा उन्मूलन हो जाए। जब गांधीजी इस निष्कर्ष पर पहुंचे तो उनसे किसीने प्रश्न पूछा: "आपने छुआछूत विरोधी कार्य को जाति व्यवस्था के विरुद्ध व्यापक आन्दोलन का अंग क्यों नहीं बनाया। क्योंकि यदि किसी वृक्ष की जड़ उखाड़ दी जाए तो उसकी शाखाएं अपने आप सूख जाती हैं?" गांधीजी ने उत्तर दिया: "मेरा किसी विषय पर कुछ विचार रखना एक बात है परन्तु सारे समाज को उसके लिए तैयार करना बिल्कुल दूसरी बात है। यदि मैं 125 वर्ष जी सकूं तो आशा करता हूं कि मैं सारे समाज को अपने विचारों का बना लूंगा।"

गांधीजी का यह सपना अभी पूरा नहीं हुआ। यदि एक ही बात पर अड़े रहना दुर्गुण है तो मैं यह मानता हूं कि यह मुझमें है क्योंकि मैं प्रारम्भ से ही इस प्रश्न पर एक ही रवैया रखता आया हूं। 1937 में बिहार के गोपालगंज नगर में एक सभा में, जिसमें डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद और कई अन्य बिहारी नेता उपस्थित थे, मैंने यह बताया कि राष्ट्रवादी आन्दोलन में क्या त्रुटि है। मैंने कहा कि इस आन्दोलन की प्रेरणा मुख्य रूप से राजनीतिक है और इसका दृष्टिकोण भी राजनीतिक ही है। यदि यह आन्दोलन समाज की व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने का आन्दोलन नहीं बन पाएगा तो हरिजनों की स्थिति को सुधारने की प्रेरणा अधिक समय तक जीवित नहीं रहेगी। मैंने इस बात पर बल दिया कि मूल रूप से यह प्रेरणा इस बात की है कि हम अपने जीवन को सुधारें और उसे उदारता के शिखर तक ले जाएं। परन्तु 'स्वराज' की संकल्पना को अस्पष्ट रखा गया था (मैं समझता हूं कि जानबूझ कर ऐसा किया गया) जिससे कि राष्ट्रीय आन्दोलन एक संगठित मोर्चे के

समान चलाया जा सके। लेकिन मुझे यह बात समझ में नहीं आती थी कि उस समय की विचारधारा, जो रूढ़िवाद की चासनी में लिपटी हुई थी और जो नए मूल्यों को न तो समझ सकती थी और न उन्हें स्वीकार कर सकती थी, किस प्रकार राजनीति के क्षेत्र में किसी प्रकार का कोई सुधार और विकास ला सकती थी। सोचने के तरीके को ही बदलना आवश्यक था और उसके साथ ही चिन्ता की प्रणाली को एक नई दिशा देना आवश्यक था। लोगों के नैतिक और बौद्धिक दृष्टिकोण को बदलना भी उतना ही ज़रूरी था। शताब्दियों पुरानी बेड़ियां तोड़नी थीं। एक नये कार्य क्षेत्र और नये क्षितिज की खोज भी आवश्यक थी। इस सन्दर्भ में मैंने देखा कि सवर्ण हिन्दू किस प्रकार हरिजनों के कल्याण के कार्यकलाप में लगे हुए हैं। मैंने उन लोगों की भर्त्सना की जो हरिजनों के मसीहा होने का दम भरते थे। समाचार पत्रों में मेरा भाषण सही रूप में नहीं छपा और इस कारण गांधीजी ने डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद से पूछा कि मैंने वास्तव में कहा क्या था। डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद ने मेरे वारे में बहुत अच्छे भाव व्यक्त किए; कहने लगे कि यह तो आग में तपा कुंदन है। उनकी इन भावनाओं के लिए मैं उनका आभारी हूं परन्तु मेरा विचार था कि परिवर्तन सुधार के माध्यम से नहीं लाया ज़ा सकता। जब गांधीजी के विचार बदल गए तो मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई।

कुछ लोगों का यह कहना है कि सामाजिक समस्या, अछूत कहे जाने वाले लोगों की समस्या के अतिरिक्त आर्थिक समस्या है। उनका कहना है कि यदि आर्थिक समस्या का समाधान उचित ढंग से कर दिया जाए तो सब ठीक हो जाएगा। मैं समझता हूं कि यह एक छिछला दृष्टिकोण है। मेरा विचार सदा से यह रहा है कि हमारा रवैया समेकित होना चाहिए। मैं समझता हूं कि आर्थिक तथा राजनीतिक पहलुओं पर तो ध्यान जाना ही चाहिए लेकिन सामाजिक पहलू की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस दृष्टिकोण में गांधीजी का यह कथन मेरी वात की पुष्टि करता है कि जीवन को अलग-अलग टुकड़ों में बांटा नहीं जा सकता।

आज जातिवाद राजनीतिक जीवन में विष के समान इतना अधिक फैल गया है कि हमारे लोकतंत्र का ढांचा खतरे में पड़ गया है। ऐसा लगता है कि किसीको भी इस फैलते हुए कैंसर की चिंता नहीं है। तनाव वढ़ता जा रहा है लेकिन अकर्मण्यता का परिवेश ज्यों का त्यों है। सत्ता की होड़ में सभी जाति का लाभ उठा रहे हैं। जाति का उपयोग समेकित राष्ट्रवाद के उदय के लिए नहीं बल्कि अपने-अपने संकीर्ण उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जा रहा है जिससे राष्ट्र का ताना-वाना कमज़ोर पड़ता जा रहा है। आवश्यकता इस वात की है कि राष्ट्र के नैतिक तथा आध्यात्मिक साधनों का प्रयोग

इस हानिकारक व्यवस्था को समाप्त करने के लिए एक सामाजिक और बौद्धिक आन्दोलन चलाने के लिए किया जाए। यदि ऐसा नहीं होगा तो लोकतंत्र समाप्त हो जाएगा। एकता के बन्धन जाति और क्षेत्र की सीमाओं से परे हैं और होने चाहिएं ; इस बात को समझ लेने की ज़रूरत है।

गांधीजी हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन करने में सफल नहीं हुए। इस व्यवस्था ने तो इस्लाम और ईसाई धर्म को भी दूषित कर दिया है। गांधीजी की सफलता यह थी कि उन्होंने 'अछूतों' को आज़ादी की राह पर ला खड़ा किया। हिन्दू मानस पुरानी रूढ़ियों के बन्धन से मुक्त होना चाहिए लेकिन इसमें समय लगेगा। और इसी मुक्ति के परिणाम-स्वरूप ही नई व्यवस्था का उदय हो सकता है। वर्ग के आधार पर सोचा जाए तो समस्या यह है कि सभी को जीवन की न्यूनतम आवश्यकताएं, रहने को मकान, रोज़गार और ऐसे स्कूलों की सुविधा प्राप्त हो जिसमें सभी वर्गों के बच्चे शिक्षा पा सकें। हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था इतनी जटिल है कि वर्ग की समस्या को जाति की समस्या से अलग नहीं किया जा सकता जो कि नैतिक और बौद्धिक क्रान्ति की समस्या है। अब समय अधिक नहीं रहा है। विभिन्न जातियों के बीच अविश्वास की भावना गहरी होती जा रही है। आवश्यकता इस बात की है कि बड़े पैमाने पर कार्यवाही प्रारम्भ की जाए जिससे कि सभी को समान रूप से लोकतंत्र के लाभ प्राप्त हो सकें, विभिन्न जातियों में परस्पर समझ-बूझ की भावना पैदा हो और अलगाव घटे। जो भी कार्यवाही आवश्यक हो वह गांधीजी के सिद्धान्तों पर आधारित होनी चाहिए अर्थात् उसमें नैतिकता का बल होना चाहिए। गांधीजी के बहुत से विचार आज संगत नहीं रहे हैं और गांधीजी जीवित होते तो स्वयं उनको तिलांजलि दे देते। परन्तु उनका यह दृष्टिकोण आज भी संगत है कि समूहों के व्यवहार को बदलने के लिए नैतिक शक्ति का प्रयोग अनिवार्य है। गांधीजी के विचारों का प्रभाव उससे कहीं अधिक समय तक रहेगा जितना कि आज दिखाई दे रहा है।

4

अनुसूचित जाति की समस्या

गांधीजी की मृत्यु के साथ ही अनुसूचित जातियों को मुक्त कराने का गैर सरकारी आन्दोलन समाप्तप्राय हो गया। इसमें सन्देह नहीं कि हरिजन सेवक संघ जैसे कुछ संगठन अपना कार्यकलाप जारी रख रहे हैं परन्तु उसका प्रभाव न तो सवर्ण हिन्दुओं पर पड़ रहा है और न अनुसूचित जातियों पर। राजनीतिक दलों ने अनुसूचित जातियों की समस्याओं में केवल इतनी दिलचस्पी ली है कि राजनीतिक दृष्टि से या चुनावों के दौरान उनकी सहायता की जाए।

आज भारत में कानून की दृष्टि में कोई भी अछूत नहीं रहा। संविधान ने छुआछूत का उन्मूलन कर दिया है। विवाह तथा उत्तराधिकार सम्वन्धी कानूनों का संशोधन हो चुका है। इस प्रकार, जहां तक कानून का सम्बन्ध है, भारत के समाज में एक महान् क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गया है। परन्तु हमारा परम्परागत रवैया अभी तक वही है। इन कानूनों को प्रभावोत्पादक ढंग से वहुत कम लागू किया जाता है और जनता ने उन्हें अपने सामाजिक तथा आर्थिक जीवन का अंग नहीं बनाया। कानून तथा संविधान की दृष्टि में सभी नागरिक बराबर हैं परन्तु आज का भारतीय समाज विषमता पर आधारित है जिसमें ऊंची और नीची जात को स्वीकृति दी गई है। भारतीय समाज ने अपने सामाजिक जीवन के लिए नये मूल्य स्वीकार किए हैं। हिन्दू समाज भावनात्मक स्तर पर कई अंगों में वंटा हुआ है। हिन्दू समाज भारतीय समाज का प्रमुख अंग है परन्तु यह अन्य समाजों के साथ मिलकर एक समांगी, अविभाजित भारतीय समाज का रूप नहीं ले पाया। भारतीय समाज की यह मूल कमज़ोरी सभी लोगों के लिए चिन्ता का विषय है।

जहां तक भेदभाव को समाप्त करने की आवश्यकता का सम्बन्ध है प्रत्येक व्यक्ति—कम से कम देखने में—उसके प्रति कटिबद्ध है। परन्तु वास्तविकता

यह है कि जो लोग सार्वजनिक रूप से जाति की निंदा करते हैं, अपने दैनिक जीवन में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उसी के अनुसार आचरण करते हैं। इस बौद्धिक संकल्पना को व्यावहारिक रूप नहीं दिया जाता। बहुत से बुद्धिजीवी और विशिष्ट वर्ग के लोग अपने ही संसार में रहते हैं और पता नहीं है कि जातिभेद वाले समाज में कितनी असमता और अन्याय है। कई बार सार्वजनिक रूप से वे समतावादी विचारों का दम भरते हैं लेकिन वे अपने जीवन के इन पूर्वाग्रहों का उन्मूलन करने में सफल नहीं हुए। बहुत बार चेतन और अर्द्धचेतन के बीच एक दीवार खड़ी मिलती है।

व्यक्ति की कथनी और करनी में जो अन्तर है वह कानून और उसके लागू किए जाने के बीच अन्तर के रूप में प्रकट होता है। जब अमरीका में दासता समाप्त करने का ऐतिहासिक कानून पास किया गया तो दास प्रथा के विरुद्ध एक रोषभरा और उत्कट आन्दोलन चलाया गया। सरकार को उसकी उत्कटता को दबाने के लिए कठोर कार्यवाही करनी पड़ी। इसके विपरीत जब हमारे देश में संविधान के माध्यम से छुआछूत का उन्मूलन हुआ और कानून बना तो देशभर में कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। इसका क्या कारण है? कारण यह है कि हिन्दुओं में जो सबसे अधिक रूढ़िवादी हैं वे भी यह समझते हैं कि ऐसा कानून बनाना उचित था। परन्तु यह कानून, कानून की किताबों में ही रहा है इसको कभी लागू नहीं किया गया।

इस परिस्थिति की ज़िम्मेदारी कुछ उन लोगों को भी लेनी पड़ेगी जो उदारमना हैं और अनुसूचित जातियों के समर्थक होने का दम भरते हैं। उनमें से अधिकतर के विचार में अनुसूचित जातियों की समस्या इन अभागे जनों की दशा सुधारने की समस्या है। उनका रवैया इनके प्रति सामाजिक दानशीलता का रवैया है जिनके बारे में वे यह समझते हैं कि भाग्य ने उनके साथ न्याय नहीं किया। उनका सोचना यह है कि इन लोगों की सहायता के लिए कोई राहत कार्य प्रारम्भ किया जाए। जब वे लोग अनुसूचित जातियों को आर्थिक सहायता देने की बात सोचते भी हैं तो उनका विचार यह होता है कि उन्हें उतनी न्यूनतम सहायता दी जाए जिससे कि वे अपना परम्परागत व्यवसाय चला सकें। वे व्यवसाय ऐसे हैं जिनमें और लोगों ने प्रवेश नहीं किया क्योंकि वे उन्हें घटिया व्यवसाय मानते हैं। एक उदाहरण भंगियों के काम का है। जब इस प्रकार के उदारमना लोग यह देखते हैं कि अनुसूचित जातियों के लोग गन्दी बस्तियों में रहते हैं तो उन्हें केवल इतना ही सूझता है कि उनके लिए नगर या कस्बे से दूर एक नई बस्ती बना दी जाए जिसे एक बढ़िया-सा नाम दे दिया जाए लेकिन उसमें भी हरिजन शब्द सामान्यतया होता है। गन्दी बस्तियों को साफ करने की संकल्पना भी

विशिष्ट वर्ग के लिए सहायक है। जब किसी नगर के बीचोंबीच कोई गन्दी बस्ती बस जाती है और उसके आसपास संभ्रान्त लोगों के मकान होते हैं तो प्रभावशाली लोग वह भूमि खरीद लेते हैं और गन्दी बस्ती में रहने वाले लोगों को वहां से हटा दिया जाता है। इस प्रकार वह भूमि विशिष्ट वर्ग के लोगों की बस्ती के विकास के लिए प्रयुक्त की जाती है। गन्दी बस्ती में रहने वाले लोगों के दृष्टिकोण से गन्दी बस्तियों को साफ करने की बात कभी सोची ही नहीं जाती। उन लोगों को उन क्षेत्रों से हटा दिया जाता है और वे शहर या नगर से दूर जाकर फिर वैसी ही टूटी-फूटी झोंपड़ियां बनाने पर विवश होते हैं। धीरे-धीरे नगर बढ़ जाता है और इस बस्ती के आस-पास भी मकान बन जाते हैं। इसके बाद फिर इन्हें वहां से हटाने की समस्या उत्पन्न होती है जिससे कि ऊंचे वर्ग के लोगों के सुन्दर मकान बन सकें। इस प्रकार गन्दी बस्तियों में रहने वालों की मुसीबतें कभी समाप्त नहीं होतीं। मुझे यह दोहराने की आवश्यकता नहीं है कि अंततोगत्वा गांधीजी ने स्वयं इस बात की आशा छोड़ दी थी कि चतुर्वर्ण व्यवस्था को कभी सुधारा जा सकेगा और पंचम वर्ग के लोग उसका अभिन्न अंग बन सकेंगे। अंततोगत्वा गांधीजी इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि छुआछूत का उन्मूलन करने के लिए यह आवश्यक है कि जाति व्यवस्था को ही जड़ से उखाड़ फेंका जाए। भारत के समाज में चतुर्वर्ण का दर्शन इतना अधिक फैल गया है कि सरकार या स्थानीय अधिकारी जो बस्तियां बसाते हैं उनमें भी वर्गभेद की गंध आती है।

इस दृष्टिकोण का एक बड़ा अर्थ है। इसका मतलब यह होता है कि हमारा अंतिम लक्ष्य यह होना चाहिए कि अनुसूचित जाति और सवर्ण हिन्दुओं के बीच का अन्तर समाप्त कर दिया जाए और एक अलग समूह के रूप में उनका अस्तित्व ही न रहे। सच तो यह है कि मैं इस सिद्धान्त को हिन्दुओं तक ही सीमित नहीं रखूंगा। हिन्दू समाज का प्रभाव इतना शक्ति-शाली रहा है कि किसी न किसी रूप में जाति प्रथा की बुराइयां भारत के मुसलमान और ईसाई समाजों में भी जा घुसी हैं। आश्चर्य की बात यह है कि सिख धर्म भी, जो समानता के आधार पर स्थापित हुआ था, जातियों को समाप्त नहीं कर पाया। जिन धर्मों में छुआछूत धर्म का एक अभिन्न अंग नहीं है वे भी जातिभेद के दोष से कलुषित हो चुके हैं।

इसी बात से हमें इस बात का आभास मिलना चाहिए कि अनुसूचित जातियों की समस्या का वास्तविक रूप क्या है। विचारधाराओं का पुट चाहे जो भी रहा हो, इस समस्या की जड़ हमारी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में है। विचारधाराओं का प्रभाव तो हिन्दू धर्म के कर्मकाण्ड में

बड़े उत्कट रूप में प्रकट होता है। इस समस्या का हल इसी प्रकार किया जा सकता है कि सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था का पुनर्गठन क्रान्तिकारी ढंग से किया जाए।

वस्तुस्थिति क्या है ? इसमें सन्देह नहीं कि समाज अनुसूचित जातियों के पुनरुत्थान का समर्थन करता है। ग्रामीण क्षेत्रों में भी यही भावना है लेकिन वह राहत कार्यों तक ही सीमित है जिससे कि इन अभागे लोगों के कष्टों में तनिक कमी कर दी जाए। हमें आशा है कि जब इन जातियों की स्थिति सुधर जाएगी तो वे भले मानवों के समान जीवन व्यतीत कर सकेंगे, अपने को समाज के बाकी अंगों के समान मानेंगे और इस बात पर बल देंगे कि उनके साथ बराबरी का व्यवहार हो। परन्तु जब भी इस प्रकार की प्रवृत्ति प्रकट हुई है, इन अभागों को और अधिक दमन और परेशानी का सामना करना पड़ा है। इस दमन के लिए वही लोग ज़िम्मेदार हैं जिनके बारे में एक समय ऐसा लगता था कि वे नए विचारों को अपना चुके हैं। इससे हम यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उन्होंने अनमने मन से ही इन विचारों को स्वीकार किया था। जब तक जाति विरोधी आन्दोलन कुछ दलित और शोषित लोगों के लिए अस्थायी रूप से कुछ कर सकने की इच्छा तक सीमित रहेगा तब तक इसे सहन किया जाता रहेगा और तथाकथित उदारमना लोग इसके माध्यम से अपने दयाभाव को प्रकट कर सकेंगे। ज्यों ही यह आन्दोलन सामाजिक विशेषाधिकारों पर कुठाराघात करने को उद्यत होता है, इसके रास्ते में नाना प्रकार की बाधाएं उत्पन्न की जाती हैं। दोष अधिकतर समाज सुधारकों का है जो जातिभेद के ऊपरी लक्षणों को ही देखते हैं और उसकी जड़ तक नहीं पहुंच पाते।

यहां पर जाति व्यवस्था के सामाजिक तथा आर्थिक मूल का विश्लेषण करने की आवश्यकता नहीं है। मैं केवल इतना कहूंगा कि इसके बारे में अधिकाधिक दो दृष्टिकोण हो सकते हैं। एक दृष्टिकोण तो यह है कि जाति व्यवस्था और विशेष रूप से कुछ जातियों को बहिष्कृत करने की प्रवृत्ति आर्थिक शोषण के साधनमात्र हैं और कि इस आर्थिक शोषण को सामाजिक और विचारपरक आधार देने के लिए धार्मिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया। दूसरी ओर, यह विचार प्रकट किया जा सकता है कि जाति व्यवस्था मूल रूप से धार्मिक और सामाजिक घटना है जो समय के साथ बदलते हुए आर्थिक शोषण का एक सुविधाजनक साधन बन गई है। परन्तु आप इन दोनों में से चाहे किसी भी दृष्टिकोण को अपनाएं, इस यथार्थ से मुंह छुपाना असम्भव है कि छुआछूत और जातिभेद आर्थिक वर्चस्व तथा शोषण के अत्यधिक शक्तिशाली साधन हैं। यदि ऐसी बात नहीं है तो क्या कारण है

कि आज भी हम अनुसूचित जातियों की बात करते हैं तो हमारे मन में कृषि मज़दूरों या गांव के कारीगरों का चित्र उभरता है और उनके दैनिक वेतन में वृद्धि करने के अवसरों या उन्हें स्वयं अपना रोज़गार चलाने योग्य बनाने के साधन प्रदान करने की न तो चेष्टा की जाती है और न ऐसी कोई योजना बनाई जाती है। इस प्रकार लोग सदा वेतनभोगी ही बने रहेंगे। उन्हें कहीं-कहीं कृषि भूमि दी गई है लेकिन वहां भी उन्हें परेशान किया जाता है और बहुत दफ़ा मार-पीट की जाती है जिससे कि वे खेती न कर सकें। इसका कारण यह है कि यदि अनुसूचित जाति के मज़दूर किसान बन जाएंगे तो शोषक वर्ग को सस्ता श्रम नहीं मिलेगा जो आधे पेट खाकर उनका काम करे और उनकी आर्थिक स्थिति को बनाए रखने में सहायक हो। इस बारे में बहुत बातें की जाती हैं कि उन्हें मकान बनाने के लिए भूमि दी जाए, यह कहना कठिन है कि इस दिशा में कितनी प्रगति हुई है। इस काम में भी नाना प्रकार के रोड़े अटकाए जाते हैं। जिनकी भूमि पर वे झोंपड़े बनते हैं वे भी दमनकारियों के चंगुल से बच नहीं सकते। जिन परिवारों को कृषि भूमि या मकान भूमि दी गई है उनकी गणना की जाए तो बड़े रहस्योद्घाटन होंगे।

मैं पहले ही कह चुका हूं कि यह समस्या तभी हल होगी जब सामाजिक तथा आर्थिक सम्बन्धों की व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन कर दिया जाए। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि विचारधारा में परिवर्तन करना अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु यह परिवर्तन केवल इतना नहीं होना चाहिए कि लोगों को इस बात की प्रेरणा दी जाए कि वे अपने 'अभागे भाई-बहनों' पर तरस खाएं। विचारधारा में परिवर्तन करते समय उन मूलभूत सामाजिक और आर्थिक बुराइयों का पर्दाफाश करना पड़ेगा जिनके कारण छुआछूत और जातिगत शोषण होता है और जो घुन के समान भारत को खाए जा रही हैं। आप अनुसूचित जातियों के दृष्टिकोण से न सही, सारे देश के हित की दृष्टि से देखें तो इस नग्न सत्य से मुंह छुपाना असम्भव होगा कि हमारी जनता का एक बहुत बड़ा अंश समूची सामाजिक तथा आर्थिक प्रगति में साझीदार नहीं बन पाया है। यह बात बड़ी अजीब लगती है परन्तु है यह सच कि भारत की अर्थव्यवस्था में सबसे निर्धन वे लोग हैं जो सम्पत्ति का उत्पादन करते हैं और समाज के लिए अनिवार्य सेवाएं प्रदान करते हैं यद्यपि वास्तव में उत्पादक और किसान वही हैं। लाभ उन लोगों की जेब में चला जाता है जिनके हाथ में शक्ति है। गरीब मज़दूर और कारीगर तो पहले के समान वंचित रहते हैं। उन्हें नर पशुओं जैसा जीवन बिताने पर विवश होना पड़ता है क्योंकि वे अत्यन्त निर्धन हैं और इस कारण वे अपना

विकास करने के साधन प्राप्त नहीं कर पाते। सामाजिक अन्याय के कारण उनकी रचनात्मक योग्यता कुंठित हो जाती है। और इसी अन्याय को गांधीजी ने भारत के माथे पर सबसे बड़ा कलंक कहा था।

इस प्रकार यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जाति के आधार पर शोषण तभी समाप्त किया जा सकता है जब उसे सभी प्रकार के शोषण के उन्मूलन के आन्दोलन का अंग बना लिया जाए। सबसे पहले उन व्यक्तियों की निर्धनता दूर करनी पड़ेगी जो समाज के लिए परमावश्यक वस्तुओं का उत्पादन करते हैं। मैं समझता हूं कि इस पहलू की ओर सबसे अधिक प्रगतिशील विचार-धाराओं के नेताओं ने भी समुचित ध्यान नहीं दिया है। यह बात तो निश्चित रूप से आवश्यक है कि अनुसूचित जातियों और अन्य कमज़ोर वर्गों को आज की परिस्थिति में कुछ विशेष सुविधाएं देनी होंगी जिससे कि वे उन सामाजिक बाधाओं से मुक्ति पा सकें जो उन्हें रोज़गार या शिक्षा प्राप्त करने के सामान्य साधनों से वंचित करती हैं। अनुसूचित जातियां और जनजातियां ही सबसे अधिक इस स्थिति में हैं कि उन्हें भूमि और मकान के अधिकारों से अन्यों की अपेक्षा अधिक वंचित रखा गया है। इसलिए यह उचित ही है कि उनके लिए इस सन्दर्भ में विशेष प्रबन्ध किए जाएं। ये शोषित वर्ग शताब्दियों से पिछड़े रहे हैं और इन्हें समाज के अन्य वर्गों के स्तर तक पहुंचने के लिए सेवाओं में आरक्षण, सामाजिक तथा आर्थिक प्रगति के विशेष कार्यक्रमों और शिक्षा के लिए विशेष सुविधाओं की आवश्यकता है। इस बात के बावजूद कि सेवाओं में आरक्षण प्रदान किया गया है, अनुसूचित जातियों और जनजातियों के बहुत-से शिक्षित युवक आज भी बेरोज़गार हैं क्योंकि उनके पास ऐसे साधन नहीं हैं और न उनका प्रभाव है कि वे नौकरियां प्राप्त कर सकें। ऐसे शिक्षित व्यक्तियों के लिए सरकारी क्षेत्र के और गैर सरकारी कारखानों में भी रोज़गार की व्यवस्था नगण्य है। इसलिए यह देखकर कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि अनुसूचित जातियों में शिक्षित बेरोज़गारों का प्रतिशत उन जातियों की अपेक्षा अधिक है जो शिक्षा के क्षेत्र में आगे हैं। यह बात और भी अधिक आवश्यक है कि अनुसूचित जातियां स्वयं उन शताब्दियों पुराने पूर्वाग्रहों से मुक्ति पाने के लिए सतत संघर्ष करती रहें जिन्होंने उनकी प्रगति को अवरुद्ध रखा है। लम्बे समय तक प्रगति के अवसरों से वंचित रहने के परिणामस्वरूप असहायता और परावलम्बन की जो भावना है उससे छुटकारा पाना पड़ेगा। अनुसूचित जातियों को यह नहीं समझना चाहिए कि जो विशेष सुविधाएं और रियायतें उन्हें दी जाती हैं वे उनके प्रति दिखाए गए अनुग्रह की प्रतीक हैं। यह तो उनका अधिकार है जो दशाब्दियों तक उनको नहीं दिया गया और उन्हें वंचितावस्था मे रखा गया है। मैं चाहता हूं कि सवर्ण हिन्दुओं की

अपेक्षा अनुसूचित जातियों के लोग इस बात को महसूस करें कि वे उस सामाजिक और आर्थिक शोषण के प्रतीक हैं जो हमारे समाज में चल रहा है। इसलिए उन्हें न केवल ऐसे सभी आन्दोलनों का साथ देना चाहिए जिनका उद्देश्य शोषण की व्यवस्थाओं को जड़ से उखाड़ फेंकना है बल्कि ऐसे आन्दोलनों का नेतृत्व भी करना चाहिए।

अनुसूचित जातियों के लोग इस बात को बिल्कुल पसन्द नहीं करते कि उनके लिए अलग बस्तियां बसाई जाएं। ऐसी बस्तियां बसाने से जातिगत भेदभाव और स्थायी हो जाते हैं परन्तु इसके बावजूद ऐसी बस्तियां बसाई जा रहीं हैं। कई बार तो ऐसा लगता है कि सवर्ण हिन्दुओं की शुद्धता के परिरक्षणमात्र के उद्देश्य से ये बस्तियां बस रही हैं। यह हर्ष का विषय है कि अनुसूचित जातियों के लोग स्वयं इस बात की प्रतीक्षा में नहीं हैं कि कोई ऊपर से ही दान के रूप में उन्हें कुछ दे दे। अनुसूचित जातियों में कुछ ऐसी जातियां हैं जिनके व्यवसाय को समाज तिरस्कार की दृष्टि से देखता है और उसका परिणाम यह होता है कि उन्हें छुआछूत का शिकार होना पड़ता है। मुझे यह देखकर बहुत दुख हुआ है कि भंगी का काम करने वाली जातियों में साक्षरता और शिक्षा का प्रसार बहुत कम हुआ है। इसके कारण स्पष्ट हैं। यदि ये लोग अछूत न होते तो श्रमिक नेता उन्हें संगठित करते और उनके लिए वैसी ही सुविधाओं की व्यवस्था की जाती जो मज़दूरों के लिए की जाती हैं। प्रबुद्ध स्थानीय निकाय भी यह बात सोच नहीं पाते कि भंगी का काम करने वाली माताओं के शिशुओं के लिए भी शिशुगृहों की व्यवस्था होनी चाहिए। इन जातियों की सहायता के कार्य को प्रोत्साहन देने के लिए मैं समझता हूं कि ऐसे व्यक्तियों को शिक्षावृत्तियां देने का विशेष प्रबन्ध करना चाहिए जो भंगी का काम करने वाली जातियों के हैं। इन लोगों को विशेष सहायता दी जानी चाहिए जिससे कि वे अपने बच्चों को स्कूल भेज सकें। इससे उन्हें तनिक प्रोत्साहन मिलेगा। लेकिन अनुसूचित जातियों के आन्दोलन के नेताओं को इस बात का विशेष प्रयत्न करना चाहिए कि इस वर्ग के लोगों को शिक्षित बनाया जाए। इसमें सन्देह नहीं कि स्वार्थी समूह इसके रास्ते में रोड़े अटकाएंगे क्योंकि उन्हें पता है कि एक बार भंगी शिक्षित हो गए तो इस व्यवसाय पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। मैं विशेष रूप से इस बात की चर्चा इस कारण कर रहा हूं कि भंगी ही हैं जो जातिभेद के इस गढ़ के सम्पर्क में आते हैं। क्योंकि वे सवर्ण हिन्दुओं के घरों में जाकर काम करते हैं। इन्हीं लोगों को भेदभाव के अत्यन्त निकृष्ट रूप का सामना करना पड़ता है। जब किसी व्यक्ति को मानव से भी कम दर्जे का समझा जाए और कोई उसके छूने से भी डरे तो आत्म सम्मान का हनन हो जाता है और ऐसे लोग अपनी दशा सुधारने की

वात सोच भी नहीं सकते ।

मैं यह सुझाव भी देना चाहूंगा कि अन्य क्रियाकलापों के साथ-साथ महिलाओं के संगठन अपने कार्यक्रम के आधार को विस्तृत वनाएं जिससे कि विशिष्ट वर्ग की महिलाओं के अतिरिक्त दूसरी महिलाएं भी आगे आएं। तभी जाकर जातिभेद के विरुद्ध महिलाओं के आन्दोलन में कोई सार्थकता आ सकती है। अपने घरों में ही सवर्ण हिन्दू के वच्चे जाति के आधार पर भेदभाव सीखते हैं और छुआछूत उनका स्वभाव और उनकी जीवन शैली का अंग वन जाता है। वच्चे यह देखते हैं कि उनके माता-पिता, और विशेषकर माता, भंगी के साथ किस प्रकार का व्यवहार करते हैं। यदि हम महिलाओं को इस कार्य के लिए प्रेरित करने में सफल हो जाएं तो जनसाधारण के दृष्टिकोण को वदलने में अधिक सफलता मिल सकती है।

हमारा देश संकट की घड़ियों से गुज़र रहा है। हमने आर्थिक विकास की नींव तो डाल दी है। हम इस वात में भी सफल हुए हैं कि एक लोक-तंत्रात्मक, समाजवादी समाज की रचना के अपने अंतिम लक्ष्य को अधिक सुस्पष्ट कर सकें। आज उचित समय है जव हम अपने समाज की व्यवस्था को वदलने के लिए सार्थक कार्यकलाप का समारम्भ कर सकते हैं। जातिभेद संस्थागत शोषण का सवसे जघन्य रूप है। तेज़ी से सामाजिक परिवर्तन लाने के आधारभूत कार्यक्रम का एक अंग जातिभेद की समाप्ति होनी चाहिए। आज हममें समाज-सुधारकों जैसी भावना होनी चाहिए जो गांधीजी में थी और जिनका कहना था कि सभी सिद्धान्तों को परखने की एकमात्र कसौटी व्यवहार में उनका प्रयोग है। आवश्यकता इस वात की है कि लोगों के मन से जाति-गत भावना समाप्त करने के लिए विशाल जन आन्दोलन प्रारम्भ किया जाए जिससे कि एक मानव दूसरे मानव को अपना भाई समझे। आज अनुसूचित जातियां अकेले ही यह युद्ध लड़ रही हैं। नागरिक क्षेत्रों में भी सवर्ण हिन्दू अनु-सूचित जातियों को अपने मकान किराये पर देने के लिए तैयार नहीं। देश के कई भागों में उन्हें कुओं से पानी नहीं भरने दिया जाता और कई स्थानों पर नाई और धोवी उनका काम करने से इन्कार कर देते हैं। उन्हें खेतों में कठोर परिश्रम करना पड़ता है लेकिन मज़दूरी नाममात्र को ही मिलती है। और जव वे ऐसी सेवाएं प्राप्त करने के लिए अपना अधिकार सिद्ध करना चाहते हैं या उचित मज़दूरी मांगते हैं तो उनसे अमानवीय व्यवहार किया जाता है, गाली-गलोज होता है, मारपीट होती है, उनका वहिष्कार किया जाता है यहां तक कि कई वार उनकी हत्या तक कर दी जाती है। इसके अतिरिक्त उन्हें नाना प्रकार का अपमान सहना पड़ता है।

5

वर्गहीन समाज का सपना

इस बात पर बल देना पड़ेगा कि अनुसूचित जातियों और जनजातियों की समस्या को तभी समझा जा सकता है जब हम उसपर आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था के आमूलचूल पुनर्संगठन के संदर्भ में विचार करें। ऐसा किए बिना इस समस्या को हल करना तो सर्वथा असंभव है ही इसमें बहुत समय भी लगेगा। इन जातियों के कल्याण के लिए जो परियोजनाएं बनाई जा रही हैं और उन्हें जिस ढंग से कार्य रूप में परिणत किया जा रहा है उसमें बहुत-सी त्रुटियां हैं। यह आशा की जाती थी कि जब इन जातियों की दशा सुधर जाएगी तो उनके मन में भले मानवों के समान अपना जीवन व्यतीत करने की आकांक्षा जन्म लेगी। यह भी आशा थी कि जब उनमें अपने अधिकारों की चेतना उत्पन्न होगी और वे समझ जाएंगे कि उनके अधिकार क्या हैं तो वे पहले जैसा व्यवहार सहन करने से इंकार करेंगे। परन्तु जहां भी इस प्रवृत्ति ने सिर उठाया है, विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में, वहीं पर नये सिरे से दमन और अत्याचार फिर प्रारम्भ हो गए हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि ऊंची जातियों की मनोवृत्ति में वास्तव में कोई परिवर्तन नहीं आया है और वे अनमने मन से ही इस बात को स्वीकार करने लगे हैं कि अनुसूचित जातियों और जनजातियों को भी उनके अधिकार मिलने चाहिएं। तथाकथित उदारमना व्यक्तियों के मन में भी यही विचार है—कोई अन्तर है तो केवल अभिव्यक्ति का। यदि ऐसी बात नहीं है तो इन दलित और शोषित जातियों का कल्याण करने की जिस इच्छा का ढिंढोरा पीटा जा रहा है और जो दया भाव उमड़ आया है, उसका वास्तविक स्वरूप क्या है ? ऐसे लोगों से मुझे कुछ झगड़ा नहीं करना है परन्तु मैं चाहता हूं कि वे इस बात को महसूस करें कि उनके दृष्टि-कोण के मूल में जाएं तो वह वैसा ही है जैसा कि समाज के अन्य वर्गों का।

महात्मा गांधी के नेतृत्व में साम्राज्य विरोधी संयुक्त मोर्चे का गठन तो

हुआ परन्तु उसके परिणामस्वरूप कबीलों और जातियों पर आधारित और कई वर्गों में बंटे छिन्न-भिन्न समाज को एक समांगी समाज में परिवर्तित नहीं किया जा सका। हुआ केवल यह कि ऊपर से दिखने में एकता आ गई। आज भी भारतीय समाज संकीर्ण जातिगत समूहों में बंटा हुआ है। जिस भी जाति का वर्चस्व है वह औरों पर अपना प्रभुत्व जमाने की चेष्टा करती है। इसलिए जब राजनीतिक स्वतंत्रता मिलने के बाद समता, स्वतंत्रता और सामाजिक न्याय पर आधारित नए समाज के सपने से प्रेरित होकर निचले वर्गों ने ऊपर की ओर उठना प्रारम्भ किया तो हमारे समाज में निहित जातिवाद और सम्प्रदायवाद ने सिर उठाया। यह सम्प्रदायवाद विभिन्न धर्मों के बीच है। इसकी मुख्य विशेषता है कबीलों जैसा दृष्टिकोण। अतीत में जब कोई कबीला इन्द्र भगवान से यह प्रार्थना करता था कि अतिवृष्टि करके और प्राकृतिक विपत्तियों के माध्यम से दूसरे कबीले को नष्ट कर दे तो वह प्रार्थना सम्प्रदायवाद पर आधारित होती थी। आज भी अग्रवाल सभा, मारवाड़ी मण्डल, जैन प्रगति संघ और इस प्रकार के अन्य संगठन केवल अपनी ही बात सोचते हैं, दूसरे की नहीं। वे आपस में ही फलना-फूलना चाहते हैं और एक-दूसरे की सहायता करना चाहते हैं। यह मनोवृत्ति नये रूपों में प्रकट हुई है और ऐसे कई संगठन स्थापित हो गए हैं।

यह भी सच है कि 'जय बजरंग बली' और 'अल्लाहो अकबर' जैसे अच्छे नारों का प्रयोग सम्प्रदायवाद की भावनाएं भड़काने के लिए किया जाता है। सम्प्रदाय और जाति का आकर्षण एक ऐसा तत्त्व है जिसने हमारे राष्ट्र के प्रत्येक पहलू को—उसमें सामाजिक, शैक्षणिक, प्रशासनिक और राजनीतिक सभी पहलू शामिल हैं—दूषित कर दिया है।

मैं पिछले चालीस वर्षों से यह कहता रहा हूं कि जब तक वर्ण-व्यवस्था बनी रहेगी, भारतीय समाज एक सीमित समाज रहेगा और इस प्रकार जातियों की बहुलता के वातावरण में सम्प्रदायवाद को कभी समाप्त नहीं किया जा सकता। आज भी मेरा यही मत है कि सम्प्रदायवाद के अभिशाप का प्रतिकार केवल इस प्रकार किया जा सकता है कि हम अपने सोचने के तरीके में क्रान्ति लाएं, हमारा रहन-सहन, दैनिक जीवन, विचार और कार्य पद्धति बदले। लक्ष्य यह होना चाहिए कि प्रत्येक बात को मानव की कसौटी पर कसा जाए। और यह तभी हो सकता है जब जातिवाद का उन्मूलन हो। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि जातिवाद केवल हिन्दू समाज तक ही सीमित नहीं है बल्कि इसने सारे भारतीय समाज को कलुषित कर रखा है। धनी ब्राह्मण धनियों में ही विवाह करते हैं। समृद्ध सिख अपने ही आर्थिक स्तर के अन्य सिखों के साथ सम्बन्ध स्थापित करेंगे। यही बात मुसलमानों और अन्य धर्मावलम्बियों पर

भी लागू होती है। किसी निर्धन जैन को ऊंचे जैन समाज में स्थान नहीं मिलता। इसका कारण जातिगत भी है और सामाजिक तथा आर्थिक पृष्ठ-भूमि का भी।

वर्गहीन समाज एक सपना मात्र है। यदि कभी भारतीय समाज वर्गहीन बन पाया तो उसका रूप ही बदल जाएगा। इसमें कई वर्ष लग सकते हैं और सम्भव है कि गांवों में कई शताब्दियां भी लग जाएं। लेकिन तभी जाकर यह एक सजीव, जीवन्त और शक्तिशाली समाज बनेगा। तभी जाकर हमारे चिन्तन और परम्परा की मानवतावादी विचारधाराएं समाज में परिलक्षित होंगी। तभी सम्प्रदायवाद की जड़ उखाड़ी जा सकेगी। मैं मानता हूं कि यह लक्ष्य एक दु:साध्य लक्ष्य है और यह भी मुझे पता है कि बहुत-सी प्रगतिवादी शक्तियां इस दिशा में योगदान कर रही हैं। विज्ञान और तकनीकी, शीघ्रता से होते हुए नागरीकरण और औद्योगीकरण के कारण समाज का दृष्टिकोण बदलने में सहायता मिल रही है। परन्तु गांधीजी ने जो कुछ कहने का साहस किया था और वह कर भी दिखाया था, वह यह था कि नये समाज में एक नये मानव का प्रादुर्भाव हो। अन्य लोग चाहते हैं—कि इस नए मानव का निर्माण किए बिना नया समाज आ जाए जिसका सोचने का ढंग ही नया हो। भारत के सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन में शिक्षित और प्रबुद्ध लोगों के प्रशिक्षण प्राप्त दल उभर रहे हैं। उनके साथ ही साथ सम्प्रदायवादी और जातिवादी तत्व भी अपना सिर उठा रहे हैं। इस बात का निर्णय जनता को करना है कि वह क्या चाहती है।

आज बहुधा यह प्रश्न पूछा जाता है कि क्या कारण है कि मानवों ने अन्य मानवों पर ऐसे अमानवीय अत्याचार किए और क्रुद्ध भीड़ की हिंसा को देखकर भी वही लोग चुपचाप खड़े रहे जिन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवाद की शक्ति का सामना किया था और उपनिवेशवाद का विरोध करने का साहस किया था? क्या आज हम उतने वीर नहीं रहे जितने कि पहले थे? या यह कारण है कि उस उत्तेजित भीड़ के साथ हमारी हमदर्दी है?

लोकतंत्र का आधार यह है कि व्यक्ति के रूप में मानव के अन्तर्निहित गुणों में विश्वास हो न कि भीड़ के एक सदस्य के रूप में। लोकतंत्र का विश्वास ऐसे मानव में है जो क्षणिक आवेश में नहीं आता बल्कि स्वयं सोच-समझ कर कुछ नैतिक मापदण्डों के आधार पर कार्य करता है। आधुनिक लोकतंत्र का आधार ऐसा समांगी समाज है जिसमें विषमताएं कम से कम हैं। भीड़ के सदस्य मानवों को सोचने समझने वाले मानव बनाने का काम बड़ा कष्टसाध्य और समय लेने वाला है परन्तु लोकतंत्र को जीवित रखने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है। यदि कोई हिन्दू यह सोचता है कि

मुसलमान उसकी अपेक्षा घटिया है या मुसलमान यह सोचता है कि हिन्दू काफिर है, या कोई सवर्ण हिन्दू किसी वाल्मीकि या आदिवासी को मानव समझने से इंकार करता है तो यह सम्प्रदायवाद को बढ़ावा देने वाली बात है। ये भावनाएं मिलकर एक नई आग भड़का सकती हैं इसलिए इस प्रकार सोचने के तरीके को तिलांजलि देनी पड़ेगी। प्रत्येक वर्ग को उसका उचित हिस्सा मिलना चाहिए। पारिश्रमिक सामाजिक दृष्टि से लाभकारी श्रम के सन्दर्भ में समता के आधार पर मिलना चाहिए। यदि ऐसी व्यवस्था कर दी जाती है तो इस बात की संभावना है कि हमारी जातियों में अलगाव और पृथकता की जो भावना है वह बदल जाएगी और सभी को ऐसा लगेगा कि वे राष्ट्र के अंग हैं। उस दशा में राष्ट्र कुछ शक्तिशाली जातियों और सम्प्रदायों की बपौती नहीं रहेगा। सारा समाज एक संगठित राष्ट्र के निर्माण में साझीदार होगा। इसीमें हमारी वास्तविक शक्ति निहित है। उसीके आधार पर हम अपने राष्ट्र को महानता के शिखर तक ले जा सकते हैं। उस समय भी ऐसे व्यक्ति हो सकते हैं जिनमें राष्ट्र के प्रति निष्ठा न हो या जिनकी निष्ठा संदिग्ध हो। परन्तु यदि अधिकतर लोग समता का समर्थन करेंगे तो इन लोगों का विरोध प्रभावहीन और दुर्बल हो जाएगा। मैं समझता हूं कि सम्प्रदायवाद की बुराई को दूर करने के लिए, जो वास्तव में जातिवाद और कबीलावाद का ही दूसरा रूप है, समाज को इन मानसिक बन्धनों से मुक्ति दिलाना अनिवार्य है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि मानसिक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से हम आज भी कबीलों पर आधारित समाज हैं और ऐसे समाज का रूप परिवर्तन करके उसे एक सामाजिक लोकतंत्र बनाना अत्यन्त श्रमसाध्य काम है।

सौभाग्यवश गांधीजी ने सर्वोदय का लक्ष्य हमारे सामने रखा है। इस प्रकार समाजवादी समाज की रचना—जिसका अर्थ है कि एक वर्गहीन और जातिहीन समाज का प्रादुर्भाव हो—भारत का घोषित लक्ष्य है। इस प्रकार का समाज एक सर्वोदयी समाज के विकास का एक चरण मात्र होगा जिसमें प्रत्येक मानव को अपना सम्पूर्ण विकास करने के अबाध्य अवसर प्राप्त होंगे और जिसमें प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक दबाव के बिना अपनी सर्वोच्च महत्त्वाकांक्षाओं को प्राप्त कर सकेगा। ऐसे समाज में प्रत्येक मानव बराबर होगा और स्वतंत्र भी। दुर्भाग्य की बात यह है कि जो महात्मा गांधी के अनुयायी होने का दावा करते हैं उन्होंने भी गांधीजी से केवल यही सीखा है कि कुछ अनुष्ठान और कर्मकाण्ड किए जाएं जिनका गांधीजी के उपदेशों से गहरा सम्बन्ध है। गांधीजी के उपदेशों के पीछे जो भावना निहित थी उसे तो हम भुला चुके हैं। कई बार ऐसा लगता है कि हमने अपनी भूल

समझ ली है और हम यथाशक्ति गांधीजी के बताए हुए रास्ते पर चलने का प्रयत्न कर रहे हैं। भारत की अर्थव्यवस्था का पुनर्गठन ऐसे ढंग से हो रहा है जिससे मानव की गरिमा और स्वतंत्रता के विचारों को सम्वल मिलेगा। लेकिन आर्थिक तथा आध्यात्मिक प्रक्रियाओं को विभाजित करने से काम नहीं चलेगा विल्कुल वैसे ही जैसे कि मानव को आर्थिक और आध्यात्मिक मानव समझने से काम नहीं चलता। मानव आध्यात्मिक भी है और आर्थिक जीव भी। लेकिन समूचे मानव को देखना पड़ेगा। मैं लोकतंत्र-वादियों के इस मूलभूत विश्वास से सहमत हूं कि लोकतंत्र में मानव को एक इकाई माना जाना चाहिए, किसी जाति, वर्ग या सम्प्रदाय का सदस्य नहीं। जो उत्कट राष्ट्रवादी हैं उन्हें यह बात वहुत बुरी लगती है कि जाति के आधार पर राजनीतिक परित्राण या आरक्षणों की व्यवस्था की जाए और मैं उनकी इस जुगुप्सा का कारण समझ सकता हूं।

मैं इस विचार से पूर्णतया सहमत हूं कि जाति, कवीला, नस्ल या सम्प्रदाय पर आधारित समूहों की आज के युग में कोई सार्थकता नहीं रही और आधुनिक मानव को मानवीय संस्कृति अपनी थाती में मिली है। परन्तु इस बात को स्वीकार करना पड़ेगा कि हमारे उद्देश्य चाहे कितने ही अच्छे क्यों न हों, मनोवृत्तियों को वदलने में कुछ समय अवश्य लगता है। तव तक भेदभाव अनिवार्य है और उससे उत्पन्न होने वाले पृथकत्व या अलगाव की भावना भी अनिवार्य ही है। यह कोई लिखित, औपचारिक या स्पर्श्य वस्तु नहीं परन्तु इसका अस्तित्व अवश्य है। हमारे संविधान में मूल रूप से मानवतावादी दृष्टिकोण अपनाया गया है और प्रत्येक व्यक्ति को मानव के रूप में महत्त्व दिया गया है। उसमें इस वात को भी स्वीकार किया गया है कि जाति के आधार पर भेदभाव होता है और उसके परिणामस्वरूप पूर्वाग्रह जन्म लेते हैं। इसी कारण संविधान में यह व्यवस्था की गई है कि न केवल दलित वर्गों को विशेष आरक्षण और अधिकार दिए जाएं वल्कि पिछड़ी जातियों को भी वैसी ही सुविधाएं प्रदान की जाएं। परन्तु संविधान में जो वात निहित है और स्पष्ट रूप से कही नहीं गई वह यह है कि दृढ़प्रतिज्ञ होकर और संगठित ढंग से स्वेच्छापूर्वक प्रयत्न किए जाएं जिससे कि हमारी जनता का जीवन के प्रति दृष्टिकोण पूर्ण रूप से बदल जाए। यह तभी सम्भव होगा जव हम ऐसे कार्यक्रमों के माध्यम से मूल्यों का एक नया अभिज्ञान प्राप्त करें। जब पिछड़ी जातियां परित्राण और आरक्षण की मांग करती हैं तो केवल इस आधार पर हिन्दुओं को यह नहीं सोच लेना चाहिए कि इससे राष्ट्रीय एकता खतरे में पड़ जाएगी वल्कि उन्हें कृपालु संरक्षकों की भूमिका निभानी चाहिए जिनका कर्त्तव्य अपने आश्रितों के लिए

विकास की सुविधाएं प्रदान करना है। जो लोग सामाजिक, शैक्षणिक और सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं उनके लिए आरक्षण की व्यवस्था आज के संदर्भ में लोकतंत्र के सिद्धान्तों से अनमेल नहीं है।

मैं बताना चाहता हूं कि जातिवाद और छुआछूत को समाप्त करने के लिए कौन से कार्य करने आवश्यक हैं। छुआछूत जाति के संदर्भ में ही है। यदि जाति का उन्मूलन कर दिया जाता है तो छुआछूत अपने आप समाप्त हो जाएगी और किसीके मन में छूत और अछूत का विचार भी नहीं रहेगा। कानून की दृष्टि में तो छुआछूत समाप्त हो ही चुकी है क्योंकि अस्पृश्यता निवारण अधिनियम पास कर दिया गया है।

इस सम्बन्ध में सबसे पहला काम तो यह होना चाहिए कि पुनर्जागरण और सुधार की प्रक्रिया को, जो बीच में ही अवरुद्ध हो गई थी, पूर्ण किया जाए। एक बार मैंने कुछ कार्यकर्ताओं के सामने हंसी-हंसी में यह कहा था कि सम्भव है एक दिन ऐसा आए जब कानून की दृष्टि में अपनी ही जाति में विवाह मान्य न रहे। यदि राज्य की विनियमनकारी शक्तियों का प्रयोग लोकतंत्र विरोधी, मानवता विरोधी और हानिकारक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए किया जाता है तो उन्हींके प्रयोग से एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण भी किया जा सकता है जिसमें सामाजिक, आर्थिक या किसी अन्य आधार पर मानव और मानव के बीच कोई दीवार नहीं रहेगी। वह दिन अवश्य आएगा परन्तु कब यह इस बात पर आधारित है कि पुनर्जागरण और समाज के आर्थिक पुनर्गठन की प्रक्रिया कैसे और कब पूरी की जाती है। इस क्षेत्र विशेष में संगठित प्रयत्न आवश्यक हैं विशेषकर उन लोगों के जो दूसरों का मार्गदर्शन कर सकते हैं और नई दिशा दे सकते हैं। लोगों के चिंतन में परिवर्तन लाने के लिए इन लोगों का योगदान अमूल्य प्रमाणित होगा। इस परिवर्तन को केवल कानून के माध्यम से नहीं लाया जा सकता। कानून तो रास्ता दिखा सकता है लेकिन जब तक लोगों का दृष्टिकोण नहीं बदलता, ऐसे कानून को प्रभावी ढंग से लागू नहीं किया जा सकता।

उसके बाद महत्त्व है हमारी अर्थव्यवस्था के पुनर्गठन का, जिसका अर्थ यह होगा कि व्यावसायिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन हों। जो लोग स्वयं खेती करते हैं केवल उन्हींको भूमि देना एक सार्थक कदम है जिसके परिणामस्वरूप स्वतंत्रता की ज्योति ग्रामीण क्षेत्रों तक पहुंचेगी। इससे गांवों में लोकतंत्र और समांगिकता को नया जीवन मिलेगा और ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न होंगी जिनमें सहकारी उद्यम प्रभावी ढंग से काम कर सकेंगे। यह भूमि की सीमा बांधकर और अतिरिक्त भूमि को लोगों में बांटकर किया जा सकता है। भूमिहीनों को भूमि दी जाएगी तो वे ग्रामीण समाज में सक्रिय

भागीदार बनेंगे।

सम्भव है कि कानून के माध्यम से कुछ व्यवसायों पर प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक हो। एक उदाहरण मैला ढोने का है। व्यवसाय के रूप में मैला ढोने पर प्रतिवन्ध लगा देना चाहिए क्योंकि यह मानव को मानव नहीं रहने देता और यदि हमारी जीवन शैली में थोड़ा-सा परिवर्तन कर दिया जाए तो यह व्यवसाय समूचे समाज के लिए महत्त्वपूर्ण नहीं है। उसी प्रकार मृतक पशुओं को उठाकर ले जाना या उनकी खाल उतारना ऐसे ढंग से किया जा सकता है जिससे उसकी बदबू और गन्दगी से बचा जा सके।

यदि हमारी अर्थव्यवस्था का पूर्णरूपेण पुनर्गठन कर दिया जाए, पूर्ण रोज़गार की व्यवस्था हो, निर्धन और वंचित वर्गों के लिए सामाजिक सुरक्षा का प्रवन्ध हो और मानव की गरिमा को नष्ट करने वाले व्यवसायों को समाप्त कर दिया जाए तो ऐसी परिस्थितियों का निर्माण किया जा सकता है जिनमें शारीरिक श्रम के प्रति दृष्टिकोण आसानी से बदल जाएंगे और उत्पादक श्रम को महत्त्व मिलेगा। जब पुनर्जागरण और आर्थिक पुनर्गठन की प्रक्रिया चल रही हो तो यह आवश्यक है कि अनुसूचित जातियों और अन्य पिछड़ी जातियों का इस रचनात्मक प्रक्रिया में उचित योगदान प्राप्त किया जाए। यह तभी किया जा सकता है जब उन्हें जातिपरक दृष्टिकोण से उत्पन्न होने वाली अनर्हताओं और भेदभाव से बचाया जाए। उन्हें उस महान् प्रक्रिया मे अलग नहीं रखा जाना चाहिए जो आज चल रही है। और उसके लिए कोरे सिद्धान्तों की दुहाई देना ठीक नहीं है। यह नहीं चलेगा कि हम इन लोगों से कहें : "हम कृपालु और नैतिकता से ओतप्रोत ऊंची जातियां आपके हितों की रक्षा करेंगी। हम भारतीय जनता के लिए एक नये जीवन का निर्माण कर रहे हैं जिससे मानव और मानव के बीच कोई भेदभाव नहीं होगा और सभी सुखी और स्वतंत्र होंगे। लेकिन जब तक इस नये जीवन का निर्माण नहीं होता, आपको हमारे ऊपर निर्भर करना पड़ेगा जिससे कि हम आपकी रक्षा कर सकें, क्योंकि देश की अखण्डता को अक्षुण्ण रखना आवश्यक है। इसलिए आपको आरक्षणों या परित्राणों की मांग नहीं करनी चाहिए।" इस प्रकार का दृष्टिकोण नहीं चल सकता। अंततोगत्वा राष्ट्र एक अमूर्त समूह है और इसकी दुर्बलता या शक्ति व्यक्तियों पर निर्भर है और इस बात पर भी कि वह सामूहिक रूप से कैसा सोचते और महसूस करते हैं। चाहे जितना भी प्रयत्न किया जाए, जातिगत भावनाओं का उन्मूलन करने में कुछ समय लगेगा और जब तक ये भावनाएं विद्यमान हैं तब तक किसी न किसी प्रकार के परित्राणों या आरक्षणों की व्यवस्था करनी पड़ेगी, विशेष रियायतें और सुविधाएं देनी होंगी जिससे कि दलित वर्गों के लोग शैक्षणिक, आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि

से प्रगति कर सकें।

कुछ लोग राष्ट्र को अपनी इजारेदारी मानते हैं और उन्हें यह डर है कि इस प्रकार के विशेष आरक्षणों से विघटनकारी शक्तियों को बल मिलेगा और देश विघटन की ओर बढ़ेगा। मैं समझता हूं कि उनका यह भय निराधार है। इसके विपरीत इन आरक्षणों से पिछड़ी जातियों में—जो देश की जनसंख्या का अधिकतर भाग हैं—यह विश्वास उत्पन्न होगा कि उन्हें संक्रमण और रचना के काल में भी प्रगति के अवसरों से वंचित नहीं रखा जा रहा है। तब वे नये जीवन और नई व्यवस्था के निर्माण में सच्चे मन से सहयोग करेंगे। मैं समझता हूं कि यह विचार, कि आरक्षण तथा परित्राण हानिकारक हैं, उन व्यक्तियों के अचेतन मन की उपज है जो यह सोचते हैं कि जो जातियां शताब्दियों तक दलित रहीं और जिनका समाज के सोपानतंत्र में निचला स्थान है, उन लोगों की अपेक्षा आगे निकल जाएंगी जो आज तक हमारे समाज के नेता कहे जाते रहे हैं। यह बात उन लोगों पर लागू नहीं होती जो सच्चे मन से लोकतंत्र के सिद्धान्तों में विश्वास रखते हैं। परन्तु ग्रामीण जनता के अधिकतर अंश पर अवश्य लागू होती है जिनके मन में अभी तक यह विश्वास है कि समाज की चतुर्वर्ण व्यवस्था अटल है और उससे अधिक अच्छी कोई व्यवस्था नहीं हो सकती। मुझे विश्वास है कि यदि हम वे तीन कार्य करें, जिनकी चर्चा मैंने ऊपर की है, तो हम न केवल इस देश में एक नये सामाजिक और आर्थिक जीवन का सूत्रपात करेंगे बल्कि उस व्यवस्था की इतिश्री करने में सफल होंगे जिसने भगवान बुद्ध से लेकर महात्मा गांधी तक के सभी सन्तों को हरा दिया था।

6

अन्याय के शिकार

लगभग प्रत्येक छठा भारतीय अनुसूचित जाति का है और यदि अनुसूचित जनजातियों को भी मिला लिया जाए तो प्रत्येक चौथा या पांचवां भारतीय उन जातियों का सदस्य है। यदि हम इन जातियों की शिक्षा, रोजगार और कल्याण की समस्या के आयाम को समझना चाहें तो हमें इस बात को याद रखना चाहिए कि अनुसूचित जातियों और जनजातियों की संख्या इंग्लैण्ड या जर्मनी की जनसंख्या से अधिक है और जापान या इंडोनेशिया को जनसंख्या के बराबर है।

यह बात तो स्पष्ट है कि सामाजिक, आर्थिक और शैक्षणिक दृष्टि से ये लोग भारतीय जनसंख्या के सबसे पिछड़े अंग हैं। जो बात स्पष्ट नहीं है वह यह है कि इनके कष्ट मानव आत्मा के उस गंभीर रोग के लक्षण हैं जो शताब्दियों पहले हमारे समाज को लगा और जो आज तक करोड़ों भारत-वासियों के मस्तिष्क और उनके आचरण पर छाया हुआ है। यह सब इस बात के बावजूद है कि यहां पर महात्मा बुद्ध और महात्मा गांधी जैसे सुधारक हुए हैं और एक प्रबुद्ध राज्य की स्थापना हो चुकी है। इन जातियों की समस्या उतनी ही नैतिक और आध्यात्मिक है जितनी की आर्थिक।

अनुसूचित जातियों और जनजातियों को रोजगार देने की समस्या का सामान्य आर्थिक विकास की समस्या के साथ सम्बन्ध है। परन्तु इन जातियों को जो अनर्हताएं थाती के रूप में मिली हैं वे इतनी गंभीर हैं कि उनके लिए अलग से विशेष उपचार करना आवश्यक है। इस समस्या का हल तभी हो सकता है जब विशेष उपचार किए जाएं, और विशेष प्रोत्साहन तथा रियायतें दी जाएं। यह सारे कार्यकलाप योजना के अभिन्न अंग हैं और हमने आर्थिक विकास का जो ढांचा बनाया है, उससे मेल खाते हैं।

आंकड़ों से बहुधा कई बातों का पता नहीं चलता यद्यपि कुछ तत्त्व अवश्य

प्रकट हो जाते हैं। फिर भी योजनाएं बनाने के लिए, प्रगति को नापने के लिए और लक्ष्य निर्धारित करने के लिए आंकड़ों की आवश्यकता पड़ती है। उन्हें देखने से पता चलता है कि अनुसूचित जातियों और जनजातियों के सामने जो समस्याएं हैं उनका आकार कितना विशाल है। 1965 तक पौने छः करोड़ अनुसूचित जातियों के ग्रामीण व्यक्तियों में केवल एक लाख व्यक्ति मैट्रिक पास थे। नगरों में जो अड़सठ लाख अनुसूचित जाति के लोग रहते हैं उनमें से लगभग पांच हज़ार स्नातक के स्तर तक पढ़े हुए थे और कुल 629 व्यक्तियों के पास तकनीकी शिक्षा की डिग्री थी। जहां तक अनुसूचित जनजातियों का सम्बन्ध है लगभग दो करोड़ 93 लाख की जनसंख्या में से केवल सत्रह हज़ार मैट्रिक पास हैं और नागरिक क्षेत्रों में रहने वाले अनुसूचित जनजाति के लोगों में से कुल एक हज़ार ऐसे हैं जो स्नातक के स्तर तक शिक्षा प्राप्त कर चुके हैं। केवल 66 ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने तकनीकी शिक्षा की कोई उपाधि प्राप्त की है। सम्भव है कि पिछले पन्द्रह वर्षों में इन लोगों की संख्या में तनिक वृद्धि हुई हो।

जहां तक रोज़गार का सम्बन्ध है, अनुसूचित जातियों की एक करोड़ चार लाख जनसंख्या कृषि मज़दूरों की है जब कि इन जातियों के श्रमिकों की कुल संख्या तीन करोड़ तीन लाख है। अनुसूचित जनजातियों के श्रमिकों की कुल संख्या एक करोड़ 69 लाख है लेकिन उनमें से कुल 33 लाख कृषि मज़दूर हैं।

इस बात को स्वीकार किया जा चुका है कि कृषि मज़दूर, विशेषकर वे जिनके पास भूमि नहीं है (और उनकी संख्या लगभग पचास प्रतिशत है), इस जाति का सबसे पिछड़ा वर्ग है। यह मान लेना तर्कसंगत ही होगा कि वेतन-भोगी कृषि मज़दूर मुख्य रूप से अनुसूचित जातियों और जनजातियों के होते हैं।

कृषि मज़दूर एक वर्ष में 110 दिन तक बेकार रहते हैं। 1956-57 की कृषि श्रम जांच के प्रतिवेदन के अनुसार औसत वेतन पुरुष मज़दूरों के लिए 97 पैसे और महिला मज़दूरों के लिए 59 पैसे प्रतिदिन है और इन परिवारों की औसत वार्षिक आय 437 रुपये बैठती है। इस बात को स्वीकार किया जा चुका है कि इस जांच में कई गंभीर त्रुटियां थीं। परन्तु इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि पिछले दशकों में की गई कार्यवाही के बावजूद कृषि मज़दूरों की स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ है।

ऐसा लगता है कि योजना आयोग ने बिना कोई मेहनत किए यह धारणा बना ली है कि जब तक कृषि की जोत लाभकारी नहीं होगी और कृषि के तरीके अधिक उत्पादन में सहायक नहीं होंगे, वर्तमान जोतों में इतनी क्षमता नहीं होगी कि मज़दूर के वेतनों को बढ़ाते चले जाएं। इस धारणा में ग्राम्य जीवन

की यथार्थता को स्वीकार नहीं किया गया। ज़मींदारी प्रथा का उन्मूलन हो चुका है परन्तु जागीरदार मनोवृत्ति अभी तक बनी हुई है। भूमि का स्वामी होना अभी तक प्रतिष्ठा का चिह्न है। यही कारण है कि जो खेती नहीं करते वह भी भूमि खरीद लेते हैं और उसे अपने पास रखते हैं। क्या इस बात का कोई औचित्य है कि ऐसे लोगों को भूमि का स्वामी रहने दिया जाए जो उस पर स्वयं खेती नहीं करते, बल्कि प्रतिष्ठा के प्रतीक के रूप में उसे अपने पास रखे रहना चाहते हैं? उत्पादकता बढ़ाने या सामाजिक न्याय करने—इन दोनों में से किसी भी दृष्टिकोण से इस बात का कोई औचित्य दिखाई नहीं देता। अन्य कदम उठाने से पहले उन लोगों को भूमि दी जानी चाहिए जिनके पास भूमि नहीं है। भूमिहीनों में भूमि बांटने के लिए भूमि की सीमा बांधने से प्राप्त अतिरिक्त भूमि का उपयोग किया जा सकता है और उसके अतिरिक्त सरकार की कृषि योग्य परती भूमि और भूदान तथा ग्राम दान योजनाओं के अन्तर्गत प्राप्त भूमि भी भूमिहीनों में बांटी जा सकती है।

दुर्भाग्यवश भूमि की सीमा के कानून को सारे राज्यों में लागू नहीं किया गया परन्तु पश्चिमी बंगाल, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश और जम्मू तथा कश्मीर में लगभग दस लाख एकड़ फालतू ज़मीन भूमिहीन मज़दूरों या बेदखल किए असमियों में बांटी जा चुकी है। ऐसा लगता है कि भूमि की सीमा बांधने से कृषि मज़दूरों में बांटने के लिए काफी भूमि नहीं मिलेगी। भूमि की सीमा बांध देना कोई रामबाण औषधि नहीं है। परन्तु इसके माध्यम से भूमि के पुनर्वितरण का एक लाभ यह होगा कि एक तो भारत के ग्रामीण क्षेत्रों की अर्थव्यवस्था सुधर जाएगी और दूसरे लोगों में एक सुधरी हुई अर्थ-व्यवस्था के प्रति उत्साह की भावना फिर से जागृत होगी।

कृषि योग्य परती भूमि इतनी अधिक है कि उसे भूमिहीन किसानों में बांटा जा सकता है। परती भूमि सर्वेक्षण समिति के अनुसार ढाई सौ एकड़ के टुकड़ों में दस दशमलव आठ लाख एकड़ भूमि ऐसी है जिसे सोलह दशमलव आठ करोड़ रुपया खर्च करके कृषि योग्य बनाया जा सकता है। इस समिति का कहना है कि अस्सी प्रतिशत कृषि योग्य भूमि सरकार की है। एक और समिति ने भूमिहीन कृषि मज़दूरों को बसाने के लिए भूमि के छोटे-छोटे टुकड़ों की उपलब्धि के प्रश्न पर विचार किया है और उसका अनुमान है कि ढाई सौ एकड़ से कम क्षेत्रफल के परती भूमि के टुकड़े मिला लिए जाएं तो बाईस लाख एकड़ भूमि उपलब्ध हो सकती है।

बहुत-सी भूमि भूदान और ग्रामदान की योजनाओं के अन्तर्गत उपलब्ध हुई है। 42 लाख एकड़ भूमि में से लगभग पन्द्रह लाख एकड़ भूमि ऐसी नहीं है कि उसपर किसी को बसाया जा सके। दस लाख एकड़ भूमि बांटी जा

चुकी है और 17 लाख एकड़ अभी बांटी जानी है। जहां तक ग्राम-दान का सम्बन्ध है, इस योजना के अन्तर्गत दान में पांच हज़ार चार सौ चौरासी गांव मिल चुके हैं।

कुल मिलाकर देखा जाए तो पचास लाख एकड़ भूमि उपलब्ध है। यह सम्भव है कि जब लोगों को इसपर बसाने का काम शुरू किया जाए तो यह पता चले कि इसमें से बहुत-सी भूमि कृषि योग्य नहीं है और कि भूमि के कुछ टुकड़ों को कृषि योग्य बनाने पर बहुत अधिक खर्च होगा।

भूमिहीन श्रमिक परिवारों को भूमि का वितरण कुछ हद तक तो केन्द्रीय योजनाओं के अन्तर्गत किया जाता है और बाकी राज्यों की योजनाओं के अन्तर्गत। राष्ट्रीय योजना के अन्तर्गत भूमि-वितरण की जो योजनाएं बनाई गई हैं वे अच्छी तो हैं परन्तु उनको कार्य रूप में परिणत करने का काम बड़ी मन्द गति से और रुक-रुक कर हो रहा है। भूमि सुधार का मुख्य उद्देश्य तो यह है कि ग्रामीण अर्थ व्यवस्था को इस प्रकार पुनर्संगठित किया जाए कि उपेक्षा के वातावरण के स्थान पर आशा और उद्यम का वातावरण बने। यदि भूमि सुधार के विभिन्न कार्य तेज़ी से किए जाते और उन्हें सच्चे मन से कार्य रूप में परिणत किया जाता तो ऐसा वातावरण बन सकता था। परन्तु अब तक जो कार्यवाही की गई है उससे कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। न तो कृषि मजदूरों की आय में वृद्धि हुई है और न उन्हें अधिक रोज़गार ही मिला है। जहां तक भूमिहीन किसानों का सम्बन्ध है, और उन किसानों का भी जिनके पास इतनी कम भूमि है कि उन्हें किसी दूसरे की ज़मीन पर श्रम करना पड़ता है, उनके काम में बेगार का पुट है। कहा जाता है कि सबसे आसान तरीका यह है कि सहकारी समाजों की स्थापना की जाए। परन्तु उसके रास्ते में वास्तविक कठिनाइयां हैं। अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लोगों को अशिक्षा के कारण सहकारी समाजों का संगठन करने में कठिनाई होगी और वे मकान बनाने के लिए सरकार की योजनाओं से लाभ नहीं उठा सकेंगे। इन पिछड़े लोगों को यह बताना पड़ेगा कि सहकारी समाज बनाने में क्या लाभ हैं और उन्हें ऐसे समाज प्रारम्भ करने में सहायता भी देनी पड़ेगी। जब तक जनता का सहयोग प्राप्त करने के लिए प्रयत्न नहीं किया जाएगा, इन योजनाओं की कोई प्रगति नहीं होगी। और फिर, सहकारी समाजों के संगठन पर बल देने का यह मतलब भी होगा कि सरकार की ओर से जो सहायता दी जाती है उससे ये लोग वंचित रह जाएंगे।

जो भी हो, इस बात की आवश्यकता है कि सहकारी समाजों के संगठन को अधिक सरल बनाया जाए। आज तक का अनुभव यह रहा है कि केवल वही समाज ठीक ढंग से कार्य कर पाए हैं जिन्हें कच्चा माल दिया गया है या

जिन्हें अपनी निर्मित वस्तुओं को बेचने में सहायता दी गई है। जुलाहों और गन्ना उगाने वालों की सहकारी समितियां इसके उदाहरण हैं। यही बात जूता बनाने, बांस की वस्तुएं बनाने और अन्य कारीगरों पर क्यों लागू नहीं हो सकतीं क्योंकि ये पेशे भी कृषि से ही संबंधित हैं ?

आदिवासियों के ग्रामदान वाले गांवों में संयुक्त कृषि सहकारी समितियां सफल हुई हैं, इसका कारण यह है कि वहां की जनसंख्या समांगी है। जिन गांवों में कई जातियां रहती हैं वहां पर संयुक्त खेती सफल नहीं हुई, यद्यपि किसानों ने बुआई और फसल की कटाई के समय अपने बैल तथा अन्य संसाधन इकट्ठे कर लिए थे। यदि सहकारी समितियों का संगठन सरल बना दिया जाए तो अनपढ़ अनुसूचित जाति तथा जनजातियों के किसान भी अधिक अच्छे बीज, खाद, कृषि औज़ार, सिंचाई और अपना माल बेचने में सहायता ले सकते हैं। इससे उत्पादन तो बढ़ेगा ही, साथ में अधिक लोगों को रोज़गार भी मिलेगा।

अनुसूचित जातियों और जनजातियों में गतिशीलता अत्यधिक सीमित है। यह देखा गया है कि 75 प्रतिशत से अधिक अपने ही जिलों में रोज़गार खोजते हैं। बारह प्रतिशत अपने ही राज्य में किसी अन्य स्थान पर रोज़गार की तलाश करते हैं और बाकी के तेरह प्रतिशत भी अपने राज्य से बाहर जाने के लिए तैयार हैं। इन लोगों में से अधिकतर आज भी चमड़ा कमाने जैसे परम्परा से चले आ रहे व्यवसायों में लगे हैं। वे इन व्यवसायों को तभी छोड़ते हैं जब उनसे लाभ होना बन्द हो जाता है। इस परिस्थिति में इस बात की आवश्यकता है कि कारीगरों की सहकारी समितियों की योजनाओं को कार्यरूप में परिणत किया जाए। औद्योगिक प्रशिक्षण संस्थाओं में अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों की आवश्यकताओं का ध्यान नहीं रखा जाता। यदि प्रशिक्षार्थियों को इन संस्थाओं में बुलाने के स्थान पर प्रशिक्षण देने वाले विशेषज्ञ उन तक पहुंच सकें और कारीगरों को सहकारी समितियां बनाने में सहायता दे सकें तो बहुत से ऐसे मज़दूर जिन्हें कृषि में रोज़गार नहीं मिलता, इन परम्परागत हस्त शिल्प के व्यवसायों में खप सकते हैं।

गांवों के कारीगरों के सामने निम्नलिखित समस्याएं हैं : (क) उचित दामों पर कच्चा माल उपलब्ध नहीं है; (ख) ये लोग नई तकनीकों से परिचित नहीं हैं; (ग) अधिक अच्छे औजार उपलब्ध नहीं हैं; (घ) उन्हें अपना माल बेचने में कठिनाई का अनुभव होता है। सबसे विकट समस्या तो सम्भवतः माल बेच पाने की है। यदि कोई सरकारी संस्था कच्चा माल बांटे, उत्पादन के आधुनिक तरीकों का ज्ञान उपलब्ध कराए और तैयार माल को बेचने के लिए ले जाए तो रोज़गार में बहुत अधिक वृद्धि होगी और भूमि पर दबाव

कम हो जाएगा। उदाहरण के लिए—ऐसे कारीगरों द्वारा बनाए गए जूते सेना के लिए खरीदे जा सकते हैं या उनका निर्यात किया जा सकता है। आज तो सरकार का रवैया यह है कि वह कुछ सेवाएं प्रदान करती है और अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के कारीगरों से यह आशा करती है कि वे उनका उपयोग करेंगे। इस बात का कोई प्रयत्न नहीं किया गया कि परम्परागत कौशल वाले कारीगरों को प्रशिक्षण देकर आधुनिक कारीगर बनाया जाए।

रोज़गार तथा प्रशिक्षण निदेशालय ने कारीगरों को प्रशिक्षण देने का जो कार्यक्रम प्रारम्भ किया है उसमें बड़ी संभावनाएं हैं परन्तु अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के उम्मीदवारों के लिए जो आरक्षित किए जाते हैं वे उनका पूरा लाभ नहीं उठा पाते। इन उम्मीदवारों के संदर्भ में इस बात पर बल देना निरर्थक है कि उनमें न्यूनतम शैक्षणिक योग्यता होनी चाहिए। यदि औद्योगिक प्रशिक्षण संस्थाओं में विशेष एकक स्थापित किए जाएं तो उससे बहुत लाभ हो सकता है। इन एककों के माध्यम से इन जातियों के उम्मीदवारों के लिए आयु और शिक्षा सम्बन्धी अर्हताओं को ढीला किया जा सकता है। इससे भी अधिक महत्त्व इस बात का है कि प्रशिक्षण प्राप्त करने के बाद युवकों को बिना विशेष प्रयत्न किए रोज़गार मिल जाए। आजकल प्रशिक्षण समाप्त होने के बहुत समय बाद रोज़गार मिलता है। यही कारण है कि अनुसूचित जातियों और जनजातियों के बच्चे बड़ी संख्या में दस्तकारी के प्रशिक्षण के केन्द्रों की ओर आकृष्ट नहीं होते। अन्य पिछड़ी जातियों के समान अनुसूचित जातियों और जनजातियों में भी यह भ्रममूलक मनोवृत्ति है कि प्रतिष्ठा ऐसी नौकरियों में है जहां हाथ से काम न करना पड़े। यदि उन्हें क्लर्क की नौकरी मिल जाए तो वे उसे उस रोज़गार से अधिक अच्छा समझेंगे जिसमें उनके हाथ गन्दे होते हों, चाहे शारीरिक श्रम वाली नौकरी में उन्हें अधिक वेतन क्यों न मिलता हो। आशा की जानी चाहिए कि वे ऊंची जाति के लड़कों के समान इस पूर्वाग्रह से मुक्ति पा लेंगे।

सरकारी नौकरियों में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए जो स्थान सुरक्षित किए गए हैं उससे निश्चित रूप से लाभ हुआ है परन्तु जितने लोगों को वास्तव में रोज़गार मिला है उनका कुल प्रतिशत आज भी उनकी जनसंख्या के अनुपात में बहुत कम है। अनुसूचित जातियों और जनजातियों के जो लड़के भारतीय प्रशासनिक सेवा और भारतीय पुलिस सेवा की परीक्षाओं में बैठे हैं उन्होंने यह बात प्रमाणित कर दी है कि यदि उन्हें अवसर मिले तो वे अन्य परीक्षार्थियों की अपेक्षा घटिया नहीं हैं। मैं यह बात तो समझ सकता हूं कि इन और ऐसी ही अन्य नौकरियों के लिए न्यूनतम शैक्षणिक योग्यता

का विधान किया जाए परन्तु यह बात समझ में नहीं आती कि इन उम्मीदवारों को मज़दूरों के रूप में या चपरासियों के पदों पर नियुक्त किया जाए, यद्यपि वे इन पदों के अधिकारी होते हैं।

गैर सरकारी क्षेत्र में तो स्थान सुरक्षित किए ही नहीं जाते। सरकारी कम्पनियों और निगमों में भी आरक्षण सम्बन्धी आदेशों का उचित रूप से पालन नहीं किया जाता और न उनपर अमल किया जाता है। गैर सरकारी क्षेत्र में मालिक जाति और कबीले का बहुत ध्यान रखते हैं, और यदि अनुसूचित जातियों और जनजातियों के उम्मीदवार योग्यता की कसौटी पर पूरे उतरते भी हों तो भी उन्हें नियुक्त नहीं किया जाता। मैं यह नहीं कहता हूं कि उनके साथ कोई अनुग्रह किया जाए परन्तु यह अवश्य कहूंगा कि उन्हें उचित अवसर प्रदान किया जाए। सरकारी निगमों को इस बात के लिए तैयार किया जाना चाहिए कि वे इस मामले में सरकार की नीति को स्वीकार कर लें। यह देखकर प्रसन्नता होती है कि सार्वजनिक क्षेत्र में रोज़गार के मामले में स्थिति कुछ सुधर गई है।

हमें यह याद रखना चाहिए कि औद्योगिक रूप से उन्नत कई राष्ट्रों में विशेष योजनाएं बनाई गई थीं जिससे कि कम उन्नत या पिछड़े क्षेत्रों को अन्य क्षेत्रों के बराबर लाया जा सके। इसी आधार पर अनुसूचित जातियों और जनजातियों को विशेष प्रोत्साहन दिए जा रहे हैं। सरकार द्वारा पूंजी लगाकर आर्थिक विकास को प्रोत्साहन देने के परिणामस्वरूप रोज़गार में वृद्धि होनी चाहिए। परन्तु जब तक जनता में इस काम के लिए उत्साह का वातावरण तैयार नहीं किया जाता तब तक यह आशा पूरी नहीं होगी।

हमने गांधीजी के उदात्त आदर्शों पर चलते हुए स्वतंत्रता प्राप्त की थी। लेकिन उसके तीस वर्ष से अधिक समय के बाद भी हमारे देश में इस प्रकार की अमानवीय दासता को बर्दाश्त किया जा रहा है। मानव ने मानव को दासता की बेड़ियों में जकड़ रखा है और दुख यह है कि ये बेचारे मानव के स्तर से भी नीचे रहने वाले असहाय लोग सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक दमन तथा अन्याय के विरुद्ध आवाज़ नहीं उठाते।

लगभग तीस वर्ष पहले हमारे संविधान ने बेगार को अवैध घोषित कर दिया था और मानव के मानव द्वारा शोषण पर प्रतिबन्ध लगाया था। परन्तु आज भी इस सम्बन्ध में हमारे कानून त्रुटिपूर्ण हैं। कुछ राज्यों की सरकारों ने आधारभूत कानूनी कार्यवाही की परन्तु वह बड़े शिथिल रूप में की गई। अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों का आयुक्त प्रतिवर्ष अपने प्रतिवेदनों में इस बात की ओर ध्यान दिलाता है कि अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लोगों को बन्धक मज़दूर के रूप में रखा जा रहा है।

यद्यपि कुछ राज्य सरकारों ने यह दावा किया कि उन्होंने बन्धक मज़दूरी की प्रथा का उन्मूलन कर दिया है फिर भी कई संगठनों द्वारा गांवों में किए गए सामाजिक सर्वेक्षणों से इस बात पर प्रकाश पड़ा कि अभी तक बन्धक मज़दूर व्यवस्था चल रही है। कुछ प्रगति अवश्य हुई है परन्तु यह बड़े अव्यवस्थित ढंग से और देश के कुछ ही भागों में हो सकी है। परन्तु क्या यह शर्म की बात नहीं है कि मानव के शोषण के इस अत्यन्त जघन्य रूप की इतिश्री करने में असफल रहने पर भी हमने अपनी असफलता के बहाने ढूंढ़ लिए हैं।

1975 में केन्द्र सरकार ने एक अध्यादेश जारी किया। परन्तु कुछ राज्यों को छोड़कर कोई भी प्रगति नहीं हुई क्योंकि उस अध्यादेश को प्रभावी ढंग से लागू नहीं किया गया। मार्च, 1976 में संसद को इस बात की सूचना दी गई कि आन्ध्र में चौदह बन्धक मज़दूरों और बिहार में 58 बन्धक मज़दूरों को मुक्ति दिलाई गई। क्या कोई इस बात पर विश्वास करेगा कि आन्ध्र और बिहार जैसे विशाल राज्यों में इतने कम बन्धक मज़दूर थे ? उत्तर प्रदेश और कर्नाटक से जो समाचार मिले हैं उनसे पता चलता है कि काफी अच्छी प्रगति हुई है। परन्तु कुल मिलाकर देखा जाए तो बन्धक मज़दूरी की प्रथा के उन्मूलन का कार्यक्रम प्रचार का विषय बनकर रह गया है। मैं पूछता हूं कि जिन बन्धक मज़दूरों को मुक्ति दिलाई गई उनका उस मुक्ति के बाद क्या हाल हुआ ? उन्हें फिर से बसाने के लिए कोई कार्यक्रम लागू नहीं किए गए और न इन असहाय व्यक्तियों को आर्थिक सहायता दी गई। क्या कभी किसीने यह जानने की कोशिश की है कि मुक्ति पाने के बाद इनमें से कितने फिर बन्धक मज़दूर बनने पर विवश हो गए हैं ?

कुछ लोगों ने कहा है कि बन्धक मज़दूर प्रथा 1812-13 के दुर्भिक्ष के समय से प्रारम्भ हुई। परन्तु मैं पूछता हूं कि यदि अस्थायी निर्धनता ही बन्धक मज़दूर प्रथा का एकमात्र कारण था तो क्या कारण है कि अधिकतर ऐसे मज़दूर—सच तो यह है कि वे सब के सब—अनुसूचित जातियों और जनजातियों के हैं ? और जातियों के लोग बन्धक मज़दूर क्यों नहीं बने ? मैं समझता हूं कि बेगार की प्रथा बहुत पुरानी है, यद्यपि कानूनों में उसका उल्लेख नहीं आया। यह प्रथा कश्मीर से लेकर केरल तक सारे भारत में फैली हुई थी। स्वतंत्रता से पहले के भारत में जब जागीरदारी प्रथा थी तब ज़मींदार, छोटे-बड़े राजा लोग और भूमि के मालिक कृषि के कामों, बल्कि अपने घर के कामों, के लिए अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लोगों से बेगार लेते थे।

इसमें सन्देह नहीं कि ब्रन्धक प्रथा की उत्पत्ति अंततोगत्वा आर्थिक कारणों

से हुई। किसी निर्धन व्यक्ति को पैसे की आवश्यकता पड़ती है तो वह अपनी भूमि बेच देता है और उसके बाद उसे अपना पेट पालना दूभर हो जाता है। वह किसी ज़मींदार से चार सौ रुपया उधार लेता है जो बड़े उदार मन से बिना सूद के ऋण दे देता है लेकिन उसके बदले में दो साल के लिए मुफ्त श्रम करने को कहता है। इस दशा में ऋण लेने वाले को कम से कम एक जून खाना और थोड़ा जेब खर्च मिल जाता है। परन्तु खाना और जेब खर्च जान-बूझकर इतना कम दिया जाता है कि वह उसमें से कुछ वचाकर ऋण लौटा नहीं सकता। इसके विपरीत उसे एक साल के लिए फिर ऋण लेना पड़ता है जिसके वदले में उसके पिता या पत्नी को भी बन्धक मज़दूर वनने पर विवश होना पड़ता है। यदि उस व्यक्ति को कानून में निर्धारित न्यूनतम मज़दूरी दी जाती तो वह दो वर्ष में कम से कम तीन हज़ार रुपये कमा लेता और अपना ऋण चुका देता। इस प्रकार ऐसा सिलसिला चलता है कि परिवार के परिवार कई पीढ़ियों तक कर्ज़े के चंगुल में फंसे रहने के कारण वन्धक मज़दूर वने रहते हैं और अपमानजनक जीवन व्यतीत करते हैं।

ऊपर से देखने में यह समस्या आर्थिक लगती है और इसका हल यह है कि कानून बनाकर ऐसे व्यक्ति को ऋण से मुक्ति दी जाए और उसे फिर से वसाया जाए जिससे वह स्वयं अपना रोज़गार चला सके। लेकिन उन लाखों लोगों का क्या वनेगा जो प्रतिदिन कंगाल होते जा रहे हैं और जिन्हें जीवित रहने के लिए वन्धक मज़दूर वनने पर विवश होना पड़ता है? इस समस्या को वहुत बड़े पैमाने पर हल करना पड़ेगा। इस वात की व्यवस्था करनी पड़ेगी कि प्रत्येक कृषि मज़दूर को न्यूनतम मज़दूरी मिले। वही उसे कंगाली से वचा सकती है। और अगर वह कंगाल नहीं वनेगा तो वन्धक मज़दूर वनने से वच सकता है। इस बात को नहीं भूलना चाहिए कि भारतीय कृषि में इतना कम वेतन दिया जाता है कि वेतनभोगी का गुज़ारा भी नहीं होता। और कई वार कृषि मज़दूरों से वेगार ली जाती है। अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए यह स्थिति अत्यन्त कष्टप्रद है।

मेरा दृढ़ विश्वास है कि इस हानिकारक व्यवस्था को केवल कानून वनाकर समाप्त नहीं किया जा सकता। इसमें सन्देह है कि ग्रामीण क्षेत्रों में शासनतंत्र के माध्यम से आर्थिक और सामाजिक कानूनों को लागू किया जा सकता है। यह उस दशा में और भी कठिन हो जाता है जबकि जनता के विभिन्न अंगों में इतनी अधिक असमानता हो। प्रशासनिक कार्य के साथ-साथ जनता द्वारा कार्यवाही होनी चाहिए। परन्तु जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूं, इस समस्या का हल केवल आर्थिक नहीं है क्योंकि जाति और वर्ग के तत्वों के कारण यह और भी जटिल बन गई है।

वन्धक श्रम का एक और प्रच्छन्न रूप वह है जब सामाजिक व्यवस्था कुछ जातियों और कबीलों को इस बात के लिए बाध्य करती है कि वे ऊंची जातियों के लिए निःशुल्क या नाममात्र का वेतन लेकर कोई काम करें। जाति व्यवस्था इस प्रकार की प्रच्छन्न बेगार की अनुमति देती है बल्कि उसके पीछे संस्कृति और धर्म की शक्ति भी है। हमारा पुरोहित वर्ग इस प्रथा का प्रचार करता है। इसके अतिरिक्त एक और दूसरी कौम भी है। कुछ जातियों को कुछ व्यवसाय विशेष करने पड़ते हैं जिनके लिए उन्हें बहुत कम वेतन मिलता है। ऐसे कामों के लिए कम वेतन के पीछे भी जाति व्यवस्था की सामाजिक शास्ति हैं। इन शास्तियों को समाप्त किए बिना निर्धनता, कंगाली या बन्धक प्रथा को समाप्त नहीं किया जा सकता, चाहे वह प्रथा औपचारिक हो अथवा अनौपचारिक।

गांवों में रहने वाले निर्धन वर्ग को संगठित करना आवश्यक हैं जिससे कि वे अपने अधिकारों के लिए लड़ने को तैयार हों। उनका संगठन इस ढंग से करना पड़ेगा कि वे समाज की ऐसी प्रथाओं को समाप्त कर सकें जिसके अनुसार उन्हें अपने काम के लिए कम वेतन मिलता है और वे जाति व्यवस्था के अन्तर्गत कुछ चुने हुए काम ही कर सकते हैं। निर्धन ग्रामीणों का संगठन करते समय जाति का कोई ध्यान नहीं रखना चाहिए जिससे कि अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए किसी मज़दूर और गांव के कारीगर जातिभेद को तिलांजलि देना सीख लें।

मैं यह नहीं कह रहा हूं कि परंपरागत अर्थ में वर्ग संघर्ष प्रारंभ किया जाए। परन्तु सारी बात तो यह है कि आधे पेट खाकर जीवन व्यतीत करने से असुरक्षा की जो भावना उत्पन्न होती है वह ऐसे भय को जन्म देती है जिससे किसी व्यक्ति के लिए उसका परित्याग करना या उससे छुटकारा पाना कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव भी हो जाता है। और फिर अकेला चना क्या भाड़ फोड़ेगा। कोई एक व्यक्ति न्यूनतम मज़दूरी से कम वेतन पर काम करने से इन्कार कर भी दे तो उससे क्या होगा ? सभी में यह चेतना उत्पन्न हो तभी इस काम में सफलता प्राप्त की जा सकती है। गांवों का निर्धन वर्ग, विशेषकर वे लोग जो स्पष्ट अथवा प्रच्छन्न बन्धक प्रथा की बेड़ियों में जकड़े हुए हैं (अधिकतर कृषि मज़दूर तो बन्धकों के रूप में काम करते हैं) उस परम्परा के दास बना कर रखे जाते हैं जो उन्हें बन्धक मज़दूर बनाकर रखने की अनुमति देती है।

मैं एक सर्वेक्षण दल के प्रतिवेदन का हवाला देना चाहता हूं जो आन्ध्र के एक गांव में बन्धक मज़दूरों से बातचीत करने के लिए गया था। प्रतिवेदन में कहा गया है : "वे लोग चुपके-चुपके आगे आए। वे दो-दो या तीन-तीन करके आ

रहे थे और बड़ी धीमी आवाज़ में बातें कर रहे थे। उनकी आंखों में डर था लेकिन उन्होंने हिम्मत की। लगभग 35 या 40 हरिजन सहमे हुए से हमारे चारों ओर खड़े थे और भय तथा आशा से हमारी ओर देख रहे थे।" प्रतिवेदन में कहा गया है कि इससे पहले गांव के सरपंच की पत्नी ने उन्हें धमकी दी थी कि उनके इस प्रयत्न का परिणाम अच्छा न होगा। इस प्रतिवेदन के अनुसार हरिजनों को आठ या नौ घण्टे के काम के लिए प्रतिदिन एक रुपया मज़दूरी मिलती थी और साथ ही रावी या ज्वार से बनी रोटी। यह भी कहा गया है कि कुछ कृषि मज़दूरों को साल में तीन बार बीस-बीस दिन तक काम मिलता था जिसका अर्थ यह है कि उनकी वार्षिक आय 120 रुपये से अधिक नहीं होती थी। इसके अतिरिक्त उन्हें अनाज आदि के रूप में कुछ भी नहीं दिया जाता था। पिछले ही वर्ष एक गोष्ठी में इस प्रतिवेदन पर विचार किया गया। अध्ययन दलों ने देश के अन्य भागों से भी ऐसे ही प्रतिवेदन दिए थे जिनसे पता चलता है कि इन अभागों की कैसी दुर्दशा है।

इस बात की कल्पना की जा सकती है कि बन्धक के रूप में काम करने वाले और दास बनाकर रखे गए इन अभागों की क्या हालत है। इससे पता चलता है कि वे क्यों सदा त्रस्त रहते हैं। यह भय न केवल अपने स्वामियों से है बल्कि वे विद्रोह करने से भी डरते हैं क्योंकि वे सर्वथा साधनहीन हैं। इन परिस्थितियों में सारी जनता द्वारा मिल-जुल कर कार्यवाही करना आवश्यक हो गया है क्योंकि सार्वजनिक समर्थन से ही इन अभागों में साहस उत्पन्न हो सकता है और वे अपने स्वामियों के अन्याय का सामना कर सकते हैं।

मैं यह नहीं कह रहा हूं कि सरकार के विरुद्ध विद्रोह कर देना चाहिए। सच तो यह है कि सरकार इन अभागी जातियों की दशा सुधारने के लिए कटिबद्ध है। मैं तो केवल यह कह रहा हूं कि ग्रामीण क्षेत्रों के निर्धन वर्ग को बड़े पैमाने पर मिल-जुल कर कार्यवाही करनी पड़ेगी और तभी सरकार की नीतियों को कार्यरूप में परिणत किया जा सकता है और संविधान के उपबन्धों के अनुसार बेगार की इतिश्री सम्भव है। इसी माध्यम से विभिन्न राज्य सरकारों द्वारा निर्धारित न्यूनतम मज़दूरी प्राप्त की जा सकती है। यह कार्यवाही मजदूर संघों के आन्दोलनों के अनुरूप की जानी चाहिए जिससे कि जिस दल का प्रभुत्व है वह हिंसा या अराजकता न फैला सके। 1930 के दशक के प्रारंभिक वर्षों में मैंने बिहार, बंगाल और उड़ीसा में ऐसे श्रमिक संघों का संगठन किया था।

यही कारण है कि मैंने इस विषय में राष्ट्रीय मज़दूर संस्थान द्वारा ली गई दिलचस्पी का स्वागत किया है। यदि ग्रामीण क्षेत्रों में निर्धन जनता को

भलीभांति संगठित कर लिया जाए तो ऊंचे वर्गों और जातियों को अपना रवैया बदलने में अधिक समय नहीं लगेगा। परन्तु ऐसा संगठन और ऐसा जन आन्दोलन व्यापक आधार पर होना चाहिए जिसमें राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक, सभी पहलू आ जाएं। इसका कारण, जैसा कि मैं पहले ही बता चुका हूं, यह है कि ग्रामीण भारत में आर्थिक समस्याएं भी सामाजिक तथा परम्परागत तत्वों से प्रभावित होती हैं जिनके कारण सामाजिक शक्ति का एक विशेष ढांचा तैयार होता है जो राजनीतिक शक्ति के ढांचे में भी परिलक्षित होता है।

अब समय आ गया है कि हम गम्भीरतापूर्वक गांवों के निर्धन वर्ग की समस्याओं को हल करने के लिए कार्यवाही का सूत्रपात करें और अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए उन्हें संगठित करने के बारे में अपने मन में कोई भी झिझक न रहने दें। बहुत समय तक हमने नीतियों और सिद्धान्तों की बात की है। इन नीतियों के निष्कर्ष बिल्कुल स्पष्ट हैं। अब समय आ गया है कि हम तर्कसंगत आधार पर अगला कदम उठाएं और वह है इन नीतियों को कार्यरूप में परिणत करना।

न केवल बन्धक श्रम बल्कि भूमिहीन किसानों की समस्याओं पर प्रत्यक्ष और व्यापक प्रहार करने की आवश्यकता है। मैं इसमें सभी प्रकार की अनौपचारिक और प्रथा पर आधारित दासता को सम्मिलित करना चाहता हूं। जब हम ऐसा करेंगे तो ऐसा आन्दोलन तैयार हो जाएगा जो सभी प्रकार के शोषण का अंत कर देगा और भारतीय समाज से दासता के सभी लक्षण समाप्त कर देगा जो कि हमारी राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था पर लगा एक बहुत बड़ा कलंक है।

बन्धक मज़दूरों से भी अधिक बुरी दशा उन श्रमिकों की है जिन्हें हम भंगी कहते हैं। जाति के सोपानतंत्र में उनका स्थान सबसे नीचे है। पिछले पचास वर्षों से मैं इन अभागे लोगों की दशा सुधारने के लिए कुछ समय दे रहा हूं। मैंने सदा इस बात की निंदा की है कि उनके काम की परिस्थितियां बड़ी खराब हैं और मैंने उनके जीवन-स्तर को उठाने में तनिक सहायता की है। ये लोग श्रमिक वर्ग के हैं और समाज में एक विशेष प्रकार की सेवा के लिए ज़िम्मेदार हैं जिसे कोई भी और वर्ग किसी भी कीमत पर करने के लिए तैयार नहीं है। सेवा करने वाले इन लोगों को अछूत माना जाता है और इनका बहिष्कार किया जाता है।

गांवों में इन्हें कुओं से पानी नहीं लेने दिया जाता। वे अपने घड़े कुएं से परे रखते हैं और सवर्ण हिन्दू उन घड़ों में पानी डाल देते हैं। उनकी सेवा के बदले उन्हें थोड़ा अन्न दे दिया जाता है परन्तु धन शायद ही कभी दिया जाता

हो। नगरों में निगम, नगरपालिका बोर्ड, छावनी बोर्ड, अस्पताल, रेलें, कारखाने और नागरिक क्षेत्र उन्हें काफी संख्या में नौकर रखते हैं।

सफाई रखने और वातावरण को स्वच्छ रखने की समस्या बहुत विकट हो गई है क्योंकि नगर बड़ी तेज़ी से बढ़ रहे हैं, आर्थिक प्रगति की दर बढ़ गई है और बड़े-बड़े उद्योग स्थापित हो गए हैं।

1966 में जब मैं श्रम, रोज़गार और पुनर्वास मंत्री था, मैंने एक राष्ट्रीय श्रम आयोग की स्थापना की थी जिसका काम मज़दूर वर्ग की परिस्थितियों में स्वतंत्रता के बाद होने वाले परिवर्तनों की समीक्षा करना था। इस आयोग के ज़िम्मे यह भी काम सौंपा गया था कि वह मज़दूरों के वेतन, जीवन-स्तर, सामाजिक सुरक्षा और श्रम सम्बन्धों आदि के बारे में सिफारिशें करे। इस आयोग ने भंगियों के काम और सेवा की शर्तों का अध्ययन करने के लिए एक समिति नियुक्त की थी। इस समिति की सिफारिशों को जहां भी लागू किया गया वहां उनकी स्थिति में सुधार हुआ है।

मैं इस वर्ग की दुःखभरी कहानी दोहराना नहीं चाहता। जब तक इन्हें संगठित नहीं किया जाता, इनकी परिस्थितियों में कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं आ सकता। किसी समय यह लोग लड़ाकू नस्ल के थे। लेकिन रूढ़िवादी सामाजिक व्यवस्था ने वैदिक काल में इन्हें गुलाम बना लिया। तब से लेकर आज़ तक वे समाज के सोपानतंत्र में निम्नतम स्थान पर रहे हैं और इनकी परिस्थितियां अत्यन्त प्रतिकूल और कष्टप्रद रही हैं। ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जब समाज में इनकी उपस्थिति को भी अशुभ माना जाता था। क्या दासता का इससे अधिक बुरा कोई रूप हो सकता है ? क्या मानव द्वारा मानव के शोषण का इससे बुरा और कोई उदाहरण हो सकता है ? हिन्दुओं ने जब इनपर अत्याचार किए तो इनमें से बहुत-से पिछले एक हज़ार वर्ष में मुसलमान या ईसाई हो गए। उन्होंने यह सोचा होगा कि कुत्तों और गधों के समान जीवन व्यतीत करने और लोगों की जूठन खाकर और फटे कपड़े पहनकर जीवित रहने से तो धर्म परिवर्तन करना ही अच्छा है। क्या किसी समाजसुधारक ने इस बात की हिम्मत की है कि इन लोगों को अपना धर्म परिवर्तन करने से रोका जाए ?

मैं इस विषय पर और कुछ नहीं कहूंगा। हमें अपने अन्तर्मन में झांककर देखना होगा। आधुनिक युग में महात्मा गांधी ने इन लोगों के कष्टों पर प्रकाश डाला और समाज का ध्यान इनकी ओर आकृष्ट किया। गांधीजी ने इस परिस्थिति के लिए हिन्दुओं की भर्त्सना की परन्तु यह भर्त्सना उतने कठोर शब्दों में नहीं की गई जितनी कि की जानी चाहिए थी। इस बात से कोई सन्तोष नहीं होता कि आज़ादी के 33 वर्ष बाद हमने इन लोगों

की दुर्दशा को समझा है और सरकार ने यह आदेश जारी किया है कि भंगियों को सफाई कर्मचारियों की संज्ञा दी जाए। केन्द्रीय और राज्य सरकारों के विभागों और अर्द्ध सरकारी संस्थाओं ने, जिनमें सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यम भी सम्मिलित हैं, इस बात की चेष्टा की है कि इन्हें चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारी माना जाए और इनकी सेवा की शर्तों में सुधार किया जाए। अन्य संगठन भी इनके वेतन और सेवा की शर्तों के सन्दर्भ में वैसा ही करने की चेष्टा कर रहे हैं। परन्तु अभी बहुत कुछ करने को बाकी है।

मेरा विचार है कि सरकार को भंगियों के बच्चों की देखभाल करनी चाहिए। सरकार को चाहिए कि इनकी शिक्षा का विशेष प्रबन्ध करे। सभी बच्चों को छात्रवृत्तियां दी जानी चाहिएं और स्कूलों में उनके लिए निःशुल्क शिक्षा का प्रबन्ध होना चाहिए। उन्हें ऐसा प्रशिक्षण देना चाहिए जिससे कि वे रोज़गार प्राप्त कर सकें। यदि यह नहीं किया जाता तो हमारे सारे प्रयत्न, हमारे सारे कार्यक्रम असफल रहेंगे। इनकी बस्तियां और इनके मकान समाज के बाकी अंगों से अलग नहीं बल्कि उनके साथ ही होने चाहिएं। कम ब्याज पर ऋण देकर इन्हें अपने मकान बनाने का प्रोत्साहन देना चाहिए। विज्ञान और तकनीकी की प्रगति के साथ सफाई के काम में क्रान्तिकारी परिवर्तन होगा जैसा कि योरुप और अमरीका में हुआ है। तभी इन बच्चों को दासता, शोषण और युगों पुराने सामाजिक भेदभाव से बचाया जा सकता है। मैं तो इस समस्या को राष्ट्रीय समस्या मानता हूं। इसे राष्ट्रीय स्तर पर हल करने की चेष्टा करनी चाहिए। इसके लिए मानवीय दृष्टिकोण और पूर्वाग्रहों से मुक्त मनोवृत्ति आवश्यक है जिसमें जातिगत भेदभाव लेशमात्र भी न हो। इन लोगों ने शताब्दियों तक कष्ट झेले हैं। और इस बात में भी कोई सन्देह नहीं कि समाज के लिए उनकी उपयोगिता बहुत अधिक है। यदि इन लोगों को सम्मान सहित एक नया जीवन दिया जाता है तो आने वाली पीढ़ियां हमपर यह आरोप नहीं लगा सकेंगी कि हमने इनकी उपेक्षा की है। आवश्यकता इस बात की है कि इस समस्या के संदर्भ में अधिक मानवीय और सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण अपनाया जाए।

7

आरक्षण

हिन्दू समाज मूल रूप से ब्राह्मण समाज है। प्रारंभिक वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था पर आधारित समाज में चार मुख्य वर्ग थे—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। परन्तु बाद में एक नया वर्ग बहिष्कृत शूद्रों का हो गया। इन्हीं वर्णों के कारण समाज हज़ारों जातियों में बंट गया। कई धार्मिक नेताओं और समाज सुधारकों ने जाति की कठोरता और जटिलताओं को बदलने और सुधारने की चेष्टा की। परन्तु हिन्दुओं में सामाजिक व्यवस्था को बदलने में कोई अधिक सफलता नहीं मिली। आज भी वैसा ही सामाजिक भेदभाव और आर्थिक विषमता है जो शताब्दियों पहले थी और करोड़ों लोग इस विषमता के शिकार हैं। आज सबसे अधिक कष्ट तो शूद्रों को हो रहा है जो जाति से बहिष्कृत हैं। अछूत जातियों और भारत के मूल निवासियों को अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों की राजनीतिक संज्ञाएं दे दी गई हैं। इन जातियों को पशुओं जैसा जीवन व्यतीत करने पर विवश होना पड़ा है और उनकी निर्धनता अत्यन्त दयनीय है। संसार के इतिहास में कोई ऐसा उदाहरण नहीं मिलता जहां मानवों को इतना अधिक गिरा दिया गया हो और उनसे क्रूरतापूर्ण और अमानवीय व्यवहार किया जाता हो। हिन्दू समाज में एक ही धर्म के मानने वालों में अपने साथियों के प्रति भेदभाव और अन्याय से काम लिया जाता है। भारतीय समाज में इससे अधिक लज्जाजनक और कोई बात नहीं है।

भारत की सामाजिक व्यवस्था में जाति की भूमिका न केवल महत्त्वपूर्ण है बल्कि निर्णायक भी है। समाज में व्यक्ति की प्रतिष्ठा और उसका स्थान उसकी जाति पर निर्भर करता है। कुछ जातियों को प्रतिष्ठा और विशेषाधिकार प्राप्त हैं जबकि कुछ अन्य जातियों को तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता है और उन्हें बहुत-सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। बहुत से ऐसे व्यवसाय हैं जिनमें अनुसूचित जातियों और जनजातियों का प्रवेश कर पाना

कठिन है। इस कारण उन्हें अपनी आजीविका के लिए दूसरों पर निर्भर करना पड़ा है जिसका परिणाम अन्ततोगत्वा यह हुआ है कि वे सर्वथा कंगाल हो गए हैं। आर्थिक दुर्बलता के कारण वे अशिक्षा और अज्ञान के गर्त में गिरे रहने पर विवश हुए हैं। इस कारण उनमें जो पिछड़ापन आया उससे उनकी स्थिति दासों जैसी रही है और आज भी है। अनुसूचित जातियों और जन-जातियों के कुछ शिक्षित व्यक्तियों ने अंग्रेज़ों के साथ काम करते समय तनिक ज्ञान प्राप्त करके, कुछ क्षेत्रों में अपने बच्चों की शिक्षा और जनजातियों में ईसाई मिशनरियों द्वारा शिक्षा के प्रसार के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप अनु-सूचित जातियों और जनजातियों की मुक्ति का आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। इन जातियों की दुर्दशा की ओर राष्ट्रीय नेताओं का ध्यान गया। यद्यपि जन-जातियों की स्थिति अधिक अच्छी नहीं थी, उनपर अछूत होने का कलंक नहीं लगा था। उनका सौभाग्य था कि उन्हें उन केन्द्रों से खदेड़ दिया गया जहां हिन्दू रहते थे और वे जंगलों और पहाड़ों में जा बसे थे और एक स्वतंत्र समाज के रूप में अपने दिन बिताने लगे थे। जनजातियों को तो खदेड़ दिया गया परन्तु अनु-सूचित जातियों के लोग गांवों और नगरों में रहकर भी उनके अंग नहीं बन पाए। इन जातियों तथा जनजातियों को राष्ट्र की मुख्य धारा से अलग ही रखा गया।

यद्यपि कई प्रगतिशील हिन्दू संगठनों ने अनुसूचित जातियों की समस्याओं को हल करने का बीड़ा उठाया है। नेताओं में महात्मा गांधी ही पहले व्यक्ति थे जिन्होंने राजनीतिक स्तर पर इन समस्याओं को हल करने की चेष्टा की। 1930 और 1932 में गोलमेज़ सम्मेलन में जो विचार-विमर्श हुआ उसके विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है। मिस्टर रैंमसे मैकडोनल्ड द्वारा दिया गया साम्प्रदायिक पंचाट और उसका प्रतिकार करने के लिए महात्मा गांधी का ऐतिहासिक अनशन इतिहास के गर्त में खो चुके हैं। महात्मा गांधी ने अपने जीवन की बाज़ी लगाकर भी हिन्दू समाज के विघटन को रोकने की चेष्टा की। उन्होंने सवर्ण हिन्दुओं की अन्तरात्मा को जगाना चाहा जिससे कि वे यह महसूस कर सकें कि उन्हींके धर्म को मानने वाले असंख्य व्यक्ति किस प्रकार पशुओं जैसा जीवन व्यतीत कर रहे हैं। हिन्दू समाज तो बच गया परन्तु अछूतों का कुछ न बना। आज भी वे लोग दासों जैसी स्थिति में हैं और उनकी मुक्ति की कोई आशा दिखाई नहीं देती।

भारत सरकार अधिनियम, 1937 में यह व्यवस्था की गई थी कि प्रान्तों की विधानसभाओं में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए कुछ स्थान सुरक्षित रखे जाएंगे। इन स्थानों की संख्या इनकी जनसंख्या के अनुपात में नहीं थी। कुछ प्रान्तीय सरकारों ने, जैसे कि बम्बई और मद्रास, जिनका

नेतृत्व प्रगतिशील और दूरदर्शी राजनीतिज्ञ कर रहे थे, सरकारी नौकरियों और शिक्षा संस्थाओं में इन जातियों के लिए नाममात्र को कुछ स्थान सुरक्षित रखे। अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के छात्रों के लिए कुछ छात्रवृत्तियों की व्यवस्था भी की गई।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद इन जातियों में एक नई आशा का संचार हुआ और उन्होंने यह समझा कि देश की आज़ादी के साथ उनकी मुक्ति का दिन भी आ गया है। परन्तु उनकी आशाएं सफलीभूत नहीं हुईं। संविधान सभा में भी जहां देश का संविधान बन रहा था, यह बात स्पष्ट हो गई कि कुछ ऐसे तत्व हैं जो अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के सहायक नहीं हैं। जो भी हो, महात्मा गांधी के हस्तक्षेप के परिणामस्वरूप राज्यों की विधानसभाओं और लोकसभा में उनकी जनसंख्या के अनुपात में स्थान सुरक्षित करने की बात स्वीकार कर ली गई और उसे संविधान का अंग बना लिया गया। संविधान में यह भी व्यवस्था की गई कि सामाजिक तथा शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़े वर्गों की दशा सुधारी जाएगी तथा उन्हें केन्द्र तथा राज्यों की सेवाओं में स्थान दिया जाएगा। विधानसभाओं और लोकसभा में इन जातियों के लिए स्थान सुरक्षित करने की व्यवस्था तो कर दी गई पर चुनाव का तरीका ऐसा है कि अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षित चुनाव क्षेत्र में यह सम्भव है कि इन जातियों के मतदाताओं के शत-प्रतिशत समर्थन से भी कोई उम्मीदवार न चुना जाए और एक प्रतिशत अनुसूचित जाति के मत प्राप्त करके दूसरा उम्मीदवार चुन लिया जाए। इसका कारण यह है कि किसी भी चुनाव क्षेत्र में अनुसूचित जातियों के मतदाताओं की संख्या समस्त मतदाताओं के अनुपात में 18 या 20 प्रतिशत से अधिक नहीं है।

इस बात को सारा संसार स्वीकार करता है कि कोई लोकतंत्र तभी सशक्त हो सकता है जब सभी नागरिक यह महसूस करें कि वे बराबर के साझीदार हैं। शासक वर्ग और अधीन रहने वाली जातियों की संकल्पना लोकतंत्र के आधारभूत सिद्धान्तों के विरुद्ध है।

इसलिए संविधान के अनुच्छेद 16 और 33 में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए सेवाओं में स्थान सुरक्षित करने की व्यवस्था की गई। इस उपबन्ध को कार्यरूप में परिणत करने के लिए सरकार ने समय-समय पर आदेश जारी किए हैं। प्रारम्भ में केवल भर्ती के समय स्थान सुरक्षित करने की व्यवस्था थी और वह भी केवल केन्द्र सरकार की सेवाओं में। बाद में आरक्षण का विस्तार कर दिया गया और पदोन्नति में नियुक्तियां करते समय कुछ नौकरियों में इन जातियों के लिए स्थान सुरक्षित किए गए। इसके अतिरिक्त और अधिक राज्यों में सरकारी नौकरियों में इनके लिए स्थान रखे

गए। हाल ही में सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों में भी अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए स्थान सुरक्षित रखने की व्यवस्था की गई है। परन्तु आरक्षण सम्बन्धी आदेशों का पालन बड़े विलम्ब से और झिझक-झिझक कर किया गया है। चाहे वह आरक्षण भर्ती के समय हो या पदोन्नति के समय जहां तक सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों का सम्बन्ध है, उनमें आरक्षण की व्यवस्था को केवल नाममात्र के लिए लागू किया गया है और वह भी निम्न वर्ग के पदों में। आरक्षण सम्बन्धी आदेशों का पालन किया गया हो या नहीं इसके परिणामस्वरूप सवर्ण हिन्दू कर्मचारियों के मन में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के प्रति द्वेष की भावना जाग उठी है। यह बड़ी अद्‌भुत बात है कि जिन श्रेणियों के लिए स्थान सुरक्षित नहीं हैं उनके संगठन कई राज्यों में बन गए हैं और इसके लिए कुछ राजनीतिक नेता जिम्मेदार हैं। इन संगठनों का काम केवल इतना है कि अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए आरक्षण का विरोध करें। इसके अतिरिक्त ये संगठन न केवल इन जातियों के कर्मचारियों का अपमान करते हैं बल्कि उनसे मार-पीट करने की चेष्टा भी की जाती है। कई ऐसे उदाहरण मिले हैं, जब न केवल कार्यालयों बल्कि उनके घरों के सामने भी उनके विरुद्ध प्रदर्शन किए गए। यह कार्यकलाप संविधान के सर्वथा विपरीत है। परन्तु अधिकारियों ने ऐसे तत्वों को निरुत्साहित करने के लिए हस्तक्षेप नहीं किया है। दुर्भाग्यवश इस प्रश्न पर जनमानस जागा नहीं है। समाचार पत्रों और अन्य प्रचार साधनों में जो कुछ लिखा और कहा जा रहा है वह अनुसूचित जातियों और जनजातियों के हितों के विरुद्ध और उनके प्रति द्वेष की भावना से ओतप्रोत है।

उधर अनुसूचित जातियों और जनजातियों के शिक्षित युवकों में आक्रोश की भावना है। भर्ती के समय बहुत से उम्मीदवारों को किसी न किसी बहाने अस्वीकार कर दिया जाता है, यद्यपि उनके लिए आरक्षित स्थान खाली पड़े रहते हैं। भर्ती होने के बाद उन्हें पग-पग पर अपनी योग्यता का प्रमाण देना पड़ता है। अद्‌भुत बात यह है कि सामान्यतया यह माना जाता है कि सवर्ण हिन्दुओं में जन्म से ही योग्यता और कुशलता होती है। अनुसूचित जातियां और जनजातियां जन्म से ही अयोग्य और अकुशल होती हैं और उन्हें पग-पग पर अपनी कुशलता और योग्यता का प्रमाण देना पड़ता है। उनके वरिष्ठ अधिकारी उन्हें फटकारते रहते हैं, उनके साथी उनके साथ सहयोग नहीं करते और उनके अधीनस्थ कर्मचारी, जिनमें चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारी भी सम्मिलित हैं, उनके साथ अपमानजनक व्यवहार करते हैं। यदि विभाग में या किसी संस्थान अथवा उद्यम में कोई गड़बड़ी हो जाए तो इन्हीं लोगों को बलि का बकरा बनाया जाता है। यह फैशन-सा हो गया है कि जब कभी कोई रेल

दुर्घटना हो जाती है तो उसका दोष अनुसूचित जातियों और जनजातियों के पदोन्नति प्राप्त अधिकारियों अथवा कर्मचारियों पर डाल दिया जाता है। कई दुर्घटनाओं के मामले में जांच करने से पता चला है कि उस दुर्घटना से अनुसूचित जातियों या जनजातियों के किसी व्यक्ति का दूर का भी सम्बन्ध नहीं है।

हाल ही में सेवाओं में आरक्षण के विरुद्ध एक रोषपूर्ण आन्दोलन प्रारंभ किया गया है। आन्दोलनकारियों का मुख्य लक्ष्य यह है कि आरक्षण की व्यवस्था समाप्त कर दी जाए। ऐसा लगता है कि वे अनुसूचित जातियों और जन जातियों को सदा के लिए दूसरे दर्जे का नागरिक बनाकर रखना चाहते हैं। इन जातियों के लोगों को यह बात समझ में नहीं आती कि उन्हें कुछ नौकरियां मिलने पर इतना उत्कट विरोध क्यों किया जा रहा है। एक जनवरी, 1978 के आंकड़ों से, जो नीचे दिए गए हैं, पता चलता है कि केन्द्र की बहुत-सी सेवाओं में अनुसूचित जातियों और जनजातियों का प्रतिनिधित्व बहुत अपर्याप्त है।

			अधिकारियों की सं०			
संख्या	सेवा का नाम	कुल जोड़	अनु-सूचित जाति	प्रतिशत	अनु-सूचित जन-जाति	प्रतिशत
1	2	3	4	5	6	7
1.	भारतीय प्रशासनिक सेवा	3,538	333	9.41	168	4.75
2.	भारतीय पुलिस सेवा	2,098	188	8.46	69	3.29
3.	भारतीय विदेश सेवा	349	36	10.31	18	5.16
4.	भारतीय सांख्यिकी सेवा	246	8	3.25	1	0.41
5.	भारतीय आर्थिक सेवा	453	24	5.30	5	1.10
6.	भारतीय प्रतिरक्षा लेखा सेवा	184	14	7.61	7	3.80
7.	केन्द्रीय सूचना सेवा	737	63	8.55	13	1.76
8.	भारतीय लेखा तथा लेखा परीक्षा सेवा	493	31	6.29	11	2.23
9	सशस्त्र सेना मुख्य कार्यालय असैनिक सेवा	650	5	0.77	—	0.00
10.	भारतीय निरीक्षण सेवा	117	12	10.26	0	0.00

1	2	3	4	5	6	7
11.	भारतीय आपूर्ति सेवा	135	6	4.44	0	0.00
12.	केन्द्रीय इंजीनियरी सेवा (सड़कें) समूह (1)	202	9	4.46	1	0.50
13.	केन्द्रीय विजली इंजीनियरी सेवा समूह (ए)	200	9	4.50	2	1.00
14.	केन्द्रीय इंजीनियरी सेवा (सिविल विजली) समूह (क)	596	29	4.87	1	0.17
	समूह (ख)	1180	55	4.06	5	0.42
15.	सहायक ड्रिलिंग इंजीनियरिंग समूह (क)	56	3	5.36	1	1.79
16.	मैकेनिकल इंजीनियर (कनिष्ठ) समूह (क)	15+5[1]	1	5.00	0	0.00
17.	भारतीय नौसेना आयुध सेवा	16	0	0.00	0	0.00
18.	सैनिक इंजीनियरिंग सेवा समूह (क) भवन और सड़कें	350	8	2.29	0	0.00
	बिजली तथा सांत्रिक	160	4	2.50	1	0.62
19.	प्रतिरक्षा विभाग की भूमि और छावनी सेवा श्रेणी (क)	80	7	8.75	3	3.75
20.	तार इंजीनियरी सेवा	947	57	6.20	4	0.42
21.	डाक तथा तार सिविल इंजीनियरी सेवा	45	3	6.67	0	0.00
	सहायक कार्यकारी इंजीनियर (सिविल और विजली) समूह (क) और समूह (ख)	239	19	7.95	2	0.84
22.	सहायक विकास अधिकारी (इंजीनियरी)	45	3	6.67	—	0.00
23.	केन्द्रीय सचिवालय सेवा (1) श्रेणी 1—अवर सचिव और उसके वरावर के पद	114	70	11.40	7	1.14

1. पांच व्यक्तियों को नियुक्ति पत्र भेजे गए हैं जिनमें से एक अनुसूचित जाति का है।

(2) संवरण श्रेणी—उप सचिव और उसके बराबर के पद	192	10[1]	5.28	—	0.00

जो लोग अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए नौकरियों में स्थान सुरक्षित किए जाने का विरोध करते हैं वे अपने प्रयत्नों में सफल नहीं हुए और अब उन्होंने एक अत्यन्त अनर्गल प्रस्ताव किया है। उनका कहना है कि आरक्षण जाति या जन्म के आधार पर नहीं बल्कि किसी व्यक्ति की आर्थिक परिस्थितियों के आधार पर होना चाहिए। मैंने इसे अनर्गल प्रस्ताव की संज्ञा इस कारण दी है कि यदि इसपर विचार किया जाए तो पता चलेगा कि इसे कार्यरूप में परिणत करना सम्भव नहीं है।

आरक्षण विरोधी आन्दोलन के ये प्रणेता इस बात को भूल जाते हैं कि संविधान में की गई व्यवस्था के अनुसार नौकरियों में आरक्षण सामाजिक और शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़े हुए व्यक्तियों के लिए की गई है। यह व्यवस्था केवल उन लोगों के लिए है जिनके विरुद्ध समाज ने भेदभाव बरता है और जिन्हें शैक्षणिक दृष्टि से प्रगति करने का अवसर नहीं दिया गया।

केन्द्रीय सरकार की सेवाएं : 1 जनवरी, 1978 को

श्रेणी	कुल संख्या[2]	अनुसूचित जातियां	प्रतिशत	अनुसूचित जनजातियां	प्रतिशत
श्रेणी 1	31,635	1,430	4.49	265	0.85
श्रेणी 2	39,792	2,519	6.33	296	0.74
श्रेणी 3	10,79,018	1,23,686	11.46	21,712	2.01
श्रेणी 4	1,19,450	2,11,561	19.07	51,293	4.62

दूसरी बात यह है कि सेवाओं में नियुक्तियां नियुक्त होने वाले व्यक्तियों की आर्थिक प्रगति के लिए नहीं की जातीं। इन नियुक्तियों का प्रयोजन यह है कि सरकारी सेवाओं में और अन्य नौकरियों में उन व्यक्तियों को प्रतिनिधित्व दिया जाए जो कई ऐतिहासिक कारणों से देश की सेवा करने के अवसरों से वंचित रखे गए। कई ऐसे उदाहरण हैं जहां कोई व्यक्ति अपने वंशानुगत व्यवसाय में नहीं जाना चाहता (यद्यपि उससे उसे अधिक आय हो

1. केन्द्रीय सचिवालय सेवा में संवरण श्रेणी भी है परन्तु अन्य केन्द्रीय सेवाओं के साथ-साथ प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों को भी निदेशक और संयुक्त सचिव के पद के लिए नियुक्त किया जाता है। दस में से एक अधिकारी संयुक्त सचिव पद पर था।

2. इनमें भंगी शामिल नहीं हैं।

सकती है) और सरकारी सेवा में जाना चाहता है क्योंकि उससे उसे समाज में प्रतिष्ठा और सम्मान प्राप्त होता है। कई मामलों में ऐसी नियुक्तियों से अदृश्य रूप से परन्तु दूरगामी समाज सुधार हो जाता है। एक बार पिछड़ी जातियों के लिए आरक्षण का समर्थन करते समय मैंने एक यादव और एक ब्राह्मण के परस्पर सम्बन्धों की चर्चा की थी। कोई ब्राह्मण किसी यादव को सलाम नहीं करेगा चाहे समाज में उसका दर्जा कितना ही ऊंचा क्यों न हो। परन्तु यदि कोई यादव पुलिस का थानेदार नियुक्त हो जाता है तो ब्राह्मण सिपाही उसे अवश्य सलाम करेगा। यह अपने आप में एक छोटी-सी बात लगती है लेकिन यह एक महान् सामाजिक परिवर्तन का प्रतीक है। सम्भवतः इसी पहलू को लेकर आरक्षण का विरोध किया जाता है। आरक्षण का विरोध करने वाले समाज में परिवर्तन आता नहीं देख सकते। सामाजिक परिवर्तन का विरोध वे इसलिए करते हैं जिससे कि उनके विशेषाधिकार और इज़ारेदारी बनी रहे। जो व्यक्ति यह समझते हैं कि सरकारी सेवाओं में भर्ती आर्थिक प्रगति का माध्यम मात्र है, वे इस प्रकार के आरक्षणों के वास्तविक उद्देश्य को नहीं समझ पाए हैं।

यह बात भी याद रखनी चाहिए कि न केवल हिन्दू समाज में बल्कि समग्र भारतीय समाज में, जिसपर हिन्दू समाज के मापदण्डों और आचरण का प्रभाव पड़ा है, किसी व्यक्ति का समाज में दर्जा उसकी आर्थिक स्थिति पर नहीं बल्कि उसकी जाति पर निर्भर करता है। कोई अनपढ़ और कंगाल ब्राह्मण भी किसी पढ़े-लिखे और अमीर कायस्थ या बनिये या राजपूत से अधिक ऊंचा माना जाता है। केवल यही बात नहीं है कि वह स्वयं यह समझता है, सारा समाज इस बात को स्वीकार करता है। कुछ दिन पहले जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के डाक्टर विमल प्रसाद ने मुझे बताया था कि जब वह अपने गांव जाते हैं तो न चाहते हुए भी उन्हें अनपढ़ और चरित्रहीन ब्राह्मण को प्रणाम करना पड़ता है। यदि वह ऐसा न करें तो सारा गांव उसपर यह दोष लगाएगा कि ऊंची शिक्षा प्राप्त करके उसका सिर फिर गया है और वह ब्राह्मण का समुचित आदर नहीं करता। हमारे गांव, बल्कि नगर में भी यह बात आमतौर से देखने को मिलती है।

हमें इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि ऐसा दिन आए जब जाति के आधार पर किसी व्यक्ति की ऊंच या नीच का निर्णय न हो और व्यक्तियों की प्रतिष्ठा, उनकी शिक्षा, चरित्र और देश-सेवा के आधार पर निश्चित हो। जब तक ऐसा दिन नहीं आ जाता तब तक उन लोगों को, जिन्होंने युग-युग तक उत्पादक और अनिवार्य सेवाएं प्रदान की हैं, यह महसूस न होने दिया जाए कि वे मुक्त होने का स्वप्न तक नहीं देख सकते और यह आशा नहीं कर

सकते कि उन्हें अपना विकास करने और स्वतंत्र रूप से जीवन बिताने का अवसर मिलेगा। जो लोग सेवाओं में आरक्षण का विरोध करते हैं उन्हें मध्य युग की परम्पराओं पर आधारित समाज के स्थान पर आधुनिक समाज के निर्माण के लिए प्रयत्न करना चाहिए जिससे समाज में व्यक्ति का दर्जा और समाज के साथ उसके सम्बन्ध उसकी जाति के आधार पर तय नहीं होंगे।

भारतीय समाज का एक और यथार्थ है जिसकी उपेक्षा करना खतरे से खाली नहीं है। परम्परागत और रूढ़िवादी भारतीय समाज में, जहां जातिवाद फैला हुआ है वहां हिन्दू समाज ही अन्य समाजों के लिए मूल्यों का निर्धारण करता है। कोई हिन्दू अपने धर्म का त्याग कर सकता है, अपनी प्रत्येक वस्तु को तिलांजलि दे सकता है परन्तु वह अपनी जाति से छुटकारा नहीं पा सकता। वह जहां जाता है उसकी जाति प्रेतात्मा के समान उसका पीछा करती है। यही कारण है कि सारे प्रमुख समाजों में जातपात मिलेगी और उसीके आधार पर व्यवसायों, समाज में प्रतिष्ठा और सामाजिक आचरण का निर्धारण होगा। व्यवसाय का निर्णय सामान्यतया जाति के आधार पर होता है। यद्यपि भारतीय समाज में विज्ञान और तकनीक ने इतनी अधिक प्रगति कर ली है पर यह वात नहीं बदली है। कपड़ा बुनना जुलाहे का काम है, चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान। यदि किसी और जाति का व्यक्ति जुलाहे का काम करने लगे तो वह जातिच्युत हो जाता है। सम्भव है कि कोई ब्राह्मण रेल के किसी कारखाने या शस्त्रास्त्र बनानें वाले कारखाने में बढ़ई का काम करता हो जब भीं वह अपने गांव जाएगा वह अपने औजारों को नहीं छुएगा क्योंकि ऐसा करने से उसके जातिच्युत होने का भय है जिसके बाद उसे विवाह संस्कार आदि के लिए कोई नहीं बुलाएगा।

यह स्पष्ट है कि समाज में सभी मामलों में जाति का ध्यान रखा जाता है। परन्तु जब सरकारी सेवाओं में इस आधार पर आरक्षण की बात की जाती है तो किसी और मापदण्ड को अपनाने की वात कही जाती है। इसलिए यह कहना तर्करहित नहीं है कि आरक्षणों का विरोध अनुसूचित जातियों और जनजातियों को समाज में उचित स्थान प्राप्त करने के अवसर से वंचित करने का प्रयास है जिससे उन्हें प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकती है। जो लोग लम्बे समय से इनके अधिकारों पर कुठाराघात करते आए हैं वे अपने स्वार्थवश उस अधिकार को नहीं छोड़ना चाहते जो वास्तव में अनुसूचित जातियों और जनजातियों का है।

आज हमारे देश में सभी बच्चों को शिक्षा के समान अवसर प्राप्त नहीं हैं। किसी बच्चे के परिवार की आर्थिक स्थिति इस बात का निर्णय करती

है कि उसे किस प्रकार की शिक्षा प्राप्त होगी। एक बच्चा तो पब्लिक स्कूल में शिक्षा प्राप्त करता है, दूसरा नगरपालिका के प्राइमरी स्कूल में और तीसरा गांव की पाठशाला में। एक बिजली की रोशनी में और पंखे के नीचे कई अध्यापकों की सहायता से पढ़ता है और ऐसे बच्चे भी हैं जिन्हें लालटेन का प्रकाश भी उपलब्ध नहीं है। पाठ्य-पुस्तकें और अध्यापक उनके लिए उपलब्ध नहीं हैं। इन सब बातों के बावजूद इन बच्चों से यह आशा की जाती है कि वे अन्य बच्चों के साथ प्रतिस्पर्द्धा करें। क्या इस प्रकार की प्रतियोगिता न्यायपूर्ण होगी ? सभी बच्चों के लिए शिक्षा की समान सुविधाएं उपलब्ध हों तभी न्यायपूर्ण प्रतियोगिता हो सकती है।

8

समस्या का हल क्या धर्म परिवर्तन है ?

गांवों में रहने वाले अनुसूचित जाति के लोग स्वभाव से ही शान्तिप्रिय, बल्कि दब्बू होते हैं । लेकिन प्रभावशाली व्यक्ति किराए के गुण्डों की सहायता से उनपर बराबर आक्रमण करते रहते हैं, उनकी सम्पत्ति लूट ली जाती है और झोंपड़ियां जला दी जाती हैं । ऐसे आक्रमणों का कारण बिल्कुल स्पष्ट है । उनपर उस समय आक्रमण किए जाते हैं जब वे उचित मज़दूरी की मांग करते हैं या अपने छोटे-छोटे खेतों पर हल चलाना शुरू कर देते हैं । आततायी लोग उन्हें पकड़कर उनके हाथ-पांव बांध देते हैं और कई बार उनको जीवित ही जला देते हैं । कई बार तो अनुसूचित जातियों की वस्तियों की वस्तियां जला दी जाती हैं । इन सब बातों के बावजूद कुछ लोग यह कहते हैं कि अनुसूचित जातियों और जनजातियों पर अत्याचार की घटनाएं बढ़ी नहीं हैं । ऐसे लोग बड़ी निर्लज्जता से यह तर्क देते हैं कि पिछली सरकार के काल में इससे भी अधिक अत्याचार होते थे । लेकिन ऐसी एक भी घटना हो जाए तो वह इस बात का प्रतीक है कि स्थिति कितनी गम्भीर है । ये अत्याचार इतने क्रूर होते हैं कि यदि तथाकथित सभ्य लोग इनके विरुद्ध आवाज़ नहीं उठाते तो उन्हें शिक्षित या सुसंस्कृत कहलाने का कोई अधिकार नहीं है । दुर्भाग्य की बात है कि हमारे बुद्धिजीवी, हमारे उग्रवादी और प्रगतिशील मित्र एक भी शब्द इन घटनाओं की निंदा में न तो कहते हैं और न लिखते हैं । स्थिति इतनी बिगड़ गई है कि समाचार पत्र भी ठीक ढंग से ऐसे समाचार नहीं छापते । समाचार एजेंसियां चुप्पी साध लेती हैं । कभी-कभार कोई मानवतावादी पत्रकार ऐसा समाचार दे देता है । जो लोग ऐसे मामलों की रपट पुलिस में लिखवाते हैं, उन्हें आतंकित किया जाता है और जब तक विधानसभाओं या संसद में इन घटनाओं की चर्चा नहीं की जाती तब तक अधिकारियों के कान पर भी जूं नहीं रेंगती । विधानसभाओं आदि में ऐसे मामलों

का उठाया जाना कभी-कभार ही होता है और उसके पीछे भी राजनीतिक मुद्दा रहता है क्योंकि यह मामला उठाने वाले राजनीतिक लाभ प्राप्त करना चाहते हैं। ये निरीह अनुसूचित जाति और जनजाति के लोग स्वयं अपनी शक्ति से परिचित नहीं हैं और वह शक्ति है इनकी अपार जनसंख्या। इन जातियों के करोड़ों लोग देशभर में फैले हुए हैं और यदि ये संगठित हो जाएं और उठ खड़े हों तो ये एक नये राष्ट्र का निर्माण कर सकते हैं। लेकिन इन दब्बू, शान्तिप्रिय बल्कि दलित और दमित लोगों की अपार शक्ति शताब्दियों तक दमन की चक्की में पिसती रही है। आवश्यकता इस बात की है कि इन्हें संगठित किया जाए और इनके लिए एक नये और महान् भविष्य का निर्माण किया जाए।

अनुसूचित जातियों के लोग खेतों, खानों, जंगलों और कारखानों में काम करते हैं। वे न केवल अनाज, दालें और अन्य कृषि-उत्पाद उगाते हैं बल्कि सड़कें, पुल, बांध और भवन भी बनाते हैं। ये लोग सच्चे अर्थों में सम्पत्ति के निर्माता हैं। लेकिन इन्हें उचित पारिश्रमिक नहीं मिलता। इनमें से अधिकतर श्रद्धालु हिन्दू हैं। लेकिन इसी धर्म के मानने वाले लोग इनकी छाया से भी दूर भागते हैं। ये लोग फिर भी अपनी श्रद्धा और विश्वास नहीं छोड़ते और दूर से ही हिन्दू देवी-देवताओं की पूजा किए जाते हैं। इन्हें युगों तक घोर दमन का शिकार होना पड़ा है और अब यह हालत हो गई है कि इनमें से अधिकतर अपनी इस निम्न स्थिति को स्वीकार कर चुके हैं और कभी सपने में भी नहीं सोचते कि वे अपना धर्म बदल लें। इतिहास के प्रारम्भ से ही ये हिन्दू रहे हैं। समय-समय पर जब दमन और अत्याचार की अति हो गई और इनके लिए उसे सहन करना असम्भव बन गया तो इनमें से कुछ दूसरे धर्मों में चले गए। इनके नाम नये हो गए, नये सम्बन्ध हो गए और समाज में इनकी स्थिति भी बदल गई।

यद्यपि हरिजनों ने सवर्ण हिन्दुओं के हाथों बड़े अत्याचार सहे हैं। मैं समझता हूं कि हिन्दू धर्म का परित्याग करके ये अपनी समस्याओं को हल नहीं कर सकते।

1935 की बात है जब मैं दलित वर्ग संघ के प्रधान के रूप में रांची में हैमण्ड समिति के सामने गया और वहां पर मैंने हरिजनों की आवाज़ उठाई। उस समय मैंने कहा था कि इन लोगों को समुचित प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। और शासन में इनका हिस्सा पहले से अधिक होना चाहिए। उस समय हम लोग अंग्रेज़ों के दास थे और स्वतंत्रता संग्राम बड़े ज़ोरों से चल रहा था। ईसाई मिशनरी और ब्रिटिश शासक हरिजनों को प्रलोभन देकर अपने साथ मिलाने की चेष्टा कर रहे थे। अंग्रेज़ों की मंशा तो

केवल यह थी कि विरोधी दलों में फूट पड़ जाए। वे यह सोचते थे कि दलित वर्गों और मुसलमानों को प्रलोभन देकर राष्ट्रवादी आन्दोलन से अलग किया जा सकता है। इन दोनों समुदायों को उदार मन से अनुदान दिए जा रहे थे और विभिन्न प्रकार की सहायता भी। मैं इन प्रलोभनों के सर्वथा विरुद्ध था और मैंने हरिजनों द्वारा धर्म परिवर्तन के विरुद्ध आवाज़ उठाई। ऐसा न होता तो सम्भवतः करोड़ों हरिजन ईसाई बन जाते। राष्ट्रीय नेताओं ने उस समय मेरे इन प्रयत्नों को सराहा था।

उन दिनों मिशनरी बहुत सक्रिय थे और उन्हें ब्रिटिश सरकार का पूरा समर्थन प्राप्त था। परन्तु हम उन लोगों के बहकावे में नहीं आए और हमने हिन्दू रहते हुए अपना संघर्ष जारी रखने की ठानी। मेरे हिन्दू मित्रों और सभी राष्ट्रीय नेताओं ने यह प्रण किया था कि हमारे साथ न्याय किया जाएगा। परन्तु स्वतंत्रता से पहले और स्वतंत्रता के बाद भी हरिजनों की दशा सुधारने की दिशा में जो प्रयत्न हुए हैं उनकी गति अत्यन्त धीमी रही हैं।

अनुसूचित जातियों की समस्याओं का हल यह नहीं हैं कि वे अपना धर्म परिवर्तन कर लें। जिन क्षेत्रों में जनजातियां और कमज़ोर वर्ग के लोग रहते हैं वहां लम्बे समय से मिशनरी सक्रिय रहे हैं। उन्होंने किसी न किसी रूप में करोड़ों रुपये खर्च किए हैं। मिशनरी बहुधा उन खेतों में जाकर काम करते हैं जहां चारों ओर कंगाली बसती है। इन क्षेत्रों में लोगों की सामाजिक और आर्थिक दशा सुधारी जा सके तो धर्म-परिवर्तन करने वालों की संख्या में कमी की जा सकती है। परन्तु हमारे हिन्दू मित्र और परमार्थ की भावना से काम करने वाले लोग जनजातियों और अन्य कमज़ोर वर्गों की दशा सुधारने की ओर अधिक ध्यान नहीं दे रहे। विदेशी ईसाई मिशनरियों की तुलना में हिन्दू सुधारकों या अन्य संस्थाओं अथवा संघों ने इन दूरगामी क्षेत्रों में अस्पताल खोलने, विश्राम गृह बनाने, पंचायती केन्द्र खोलने, स्कूल या कालेज चलाने या सड़कें बनाने की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। केवल सरकार अपनी कार्यवाही के माध्यम से लोगों का मन नहीं बदल सकती। कल्याण कार्य प्रारम्भ करने से पहले इन लोगों की सहानुभूति प्राप्त करना आवश्यक है। हमारा कर्त्तव्य है कि हम अपने मन के अन्दर झांकें और अपनी अन्तरात्मा की आवाज़ सुनें।

सच तो यह है कि मिशनरियों में जनजातियों के बच्चों के लिए न केवल स्कूल और कालेज खोले हैं बल्कि इस बात की भी व्यवस्था की है कि उन्हें इंजीनियरी, डाक्टरी और अन्य विषयों की शिक्षा के लिए विदेशों में भेजा जा सके। हिन्दुओं की कल्याणकारी संस्थाओं या समाज सुधारकों ने ऐसा कोई

प्रोत्साहन नहीं दिया।

भारत दासों और अर्द्ध दासों का राष्ट्र है। श्रमिक वर्ग के अधिकतर भाग को अछूत, पिछड़े हुए या शूद्र बनाकर रख दिया गया है। हमारे समाज का आधार ही अन्यायपूर्ण हो गया है। समाज के आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक जीवन पर अभी तक ज़मींदारों और समृद्ध तथा प्रभावशाली जातियों का वर्चस्व है। वे अपने लाभ के लिए शासन करते हैं। आज़ादी के 33 वर्ष बाद भी नगरों और गांवों में करोड़ों लोग गरीबी की रेखा के नीचे रहते हैं। यद्यपि वे सम्पत्ति का उत्पादन करते हैं पर उनका जीवन नर पशुओं जैसा जीवन है। कल्याणकारी योजनाओं पर करोड़ों रुपए का व्यय होता है। परन्तु कोई भी उल्लेखनीय या क्रान्तिकारी परिवर्तन होता दिखाई नहीं देता। निर्धनता और छुआछूत विकास में बाधक हो रही हैं। सामाजिक क्रान्ति के नारे बड़े आकर्षक लगते हैं। परन्तु क्रान्तिकारी परिवर्तन है कहां ? कौन लोग हैं जिनका सरकार पर नियंत्रण है या जो प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से शासन के लिए ज़िम्मेदार हैं ? कौन हैं जो इंजीनियरी और डाक्टरी के व्यवसाय पर छाए हुए हैं ? कौन हैं जो व्यापार और शासन का नियंत्रण कर रहे हैं ? ऐसा क्रान्तिकारी परिवर्तन कौन लाएगा ?

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद मैंने सोचा था कि देश में एक सामाजिक क्रान्ति होगी। लेकिन क्रान्ति केवल कुर्सी में हुई। कुर्सी पर बैठने वाले बदल गए और उनके नाम बदल गए। कई उदारवादी और उग्रवादी भारतीय इन विचारों से सहमत हैं। परन्तु उनमें से अधिकतर अपना चित्र उभारने की कोशिशों में लगे हैं या केवल अपने को लाभ पहुंचाने के फेर में हैं। मैं समझता हूं कि निर्धनों, श्रमिकों और अछूतों की उपेक्षा अधिक दिन तक नहीं की जा सकती। हम यह दावा नहीं करते कि हिन्दू धर्म और संस्कृति के एकमात्र संरक्षक हम ही हैं। हम तो केवल इतनी आशा करते हैं कि नगरों और गांवों में हमारे साथ न्याय किया जाएगा। शिक्षा के प्रसार के बाद हमारी जनता अधिक जागरूक हो गई है और उसे अपने अधिकारों का ज्ञान है। अपनी मान-मर्यादा के लिए वे बलिदान करने को भी तैयार हैं।

सवर्ण हिन्दुओं की उपेक्षा और अत्याचारों के कारण बहुत से हरिजन ईसाई या बौद्ध होते जा रहे हैं और अब समय आ गया है कि उन्हें मानव समझा जाए और उनके अधिकार उन्हें दे दिए जाएं जिससे कि वे लोग सम्मान-पूर्वक जी सकें।

संसार में, बहुधा समृद्ध देशों में, किसी व्यक्ति को ज्ञान और उसकी शिक्षा के आधार पर परखा जाता है। कम उन्नत या उन्नतिशील देशों में अपने जीवन स्तर के कारण कोई व्यक्ति अधिक ऊंचा स्थान पाता है। परन्तु

भारत में अद्भुत बात यह है कि किसी व्यक्ति की समाज में स्थिति इस बात पर निर्भर है कि उसकी जात क्या है। जो व्यक्ति ऊंची जाति का होगा, समाज में उसकी प्रतिष्ठा उतनी ही अधिक होगी। गांवों में निर्धन और अनपढ़ ब्राह्मण और राजपूत भी अपने को हरिजनों से ऊंचा समझते हैं। वे यह कहते हैं कि पिछड़ी जातियों के लोग और हरिजन उनका आदर करें और उन्हें ऊंचा समझें। यदि नीची जातियों के लोग उनके प्रति आदर नहीं दिखाते तो उन्हें तुरन्त कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। गांव का समाज उनका बहिष्कार कर देता है और आर्थिक सम्बन्धों में भी उनका बहिष्कार होता है। वे खेतों में नहीं जा सकते, उनके ढोरों को चरने नहीं दिया जाता और कुओं से पानी तो भरने ही नहीं दिया जाता।

ग्रामीण और अर्धग्रामीण क्षेत्रों में सामाजिक तनावों और जाति संघर्षों के सम्बन्ध में समाजशास्त्रियों ने कई अध्ययन किए हैं। इन अध्ययनों के अनुसार गांवों में भी अभी तक जागीरदारी का पुट बाकी है और दलित वर्गों, का पहले के समान शोषण किया जाता है। जातिसोपानतंत्र ने कमज़ोर वर्गों, विशेष रूप से हरिजनों, के बौद्धिक और सामाजिक विकास को अवरुद्ध कर दिया है। भारत के गांवों में तो ऐसी बातें युगों से होती आई हैं और अभी तक इसमें बहुत कम परिवर्तन हुआ है। कोई अन्तर पड़ा है तो केवल इतना कि शोषण के रूप बदल गए हैं। रूढ़िवादी और समृद्ध ज़मींदार संगठित हो गए हैं। उन्होंने इस बात को महसूस किया है कि ग्राम्य समाज पर अपना वर्चस्व बनाए रखने के लिए उन्हें सत्ता के तंत्र पर नियंत्रण बनाए रखना होगा। पंचायतों और विकास खण्डों में उन्हींकी बात सुनी जाती है। अपने क्षेत्रों की राजनीति पर उनका प्रभाव है और वे सत्ता तंत्र पर नियंत्रण रखने के लिए स्वयं राजनीति में कूद पड़े हैं।

जब तक जातिवाद को पूर्णतया निर्मूल नहीं कर दिया जाता, भूमि का नये सिरे से बंटवारा नहीं होता और अछूत कहे जाने वाले इन लोगों को बराबर के अवसर नहीं दिए जाते तब तक भारत फल-फूल नहीं सकता, मुझे इस बात का पूरा विश्वास है। मैं यह भी समझता हूं कि जातिसूचक नाम और उपाधियां अपने नाम के साथ लगाने पर प्रतिबन्ध लगा देना चाहिए। लगभग 25 वर्ष पहले श्रीयुत् श्रीमन्नारायण अग्रवाल ने, जो बाद में योजना आयोग के सदस्य और फिर गुजरात के राज्यपाल बने, अपने नाम के साथ अग्रवाल लिखना बन्द कर दिया था। उस समय वह कांग्रेस के महासचिव थे। मुझे उनकी यह बात बहुत पसन्द आई। यद्यपि पंडित नेहरू और कई अन्य व्यक्ति इस बात के पक्ष में थे। यह विचार फैल नहीं पाया। अपने कई भाषणों में मैं यह कहता रहा हूं कि जातिसूचक नामों का प्रयोग बन्द कर देना चाहिए बल्कि

उनके प्रयोग पर प्रतिवन्ध लगना चाहिए। यह बात हमारे राष्ट्रीय और भाषात्मक एकीकरण में बाधक हो रही है। अन्याय और सामाजिक असमानता का एक मुख्य कारण यही है।

शिक्षा संस्थाओं के साथ किसी जाति का नाम जुड़ा हो तो उससे भी समाज को बड़ी हानि पहुंचती है। स्कूलों और कालेजों का किसी जाति विशेष से सम्बन्धित होना हमारी तुच्छ मनोवृत्ति का प्रतीक है। एक समय था जब मारवाड़ी शिक्षा समाज, पारसी शिक्षा संघ या तमिल शिक्षा संगम के संचालक मण्डलों में देशभक्त लोग थे और ये संस्थाएं शिक्षा के क्षेत्र में बहुत अच्छा काम कर रही थीं। परन्तु आजकल जातियों के नाम पर खुलने वाले स्कूलों और कालेजों में जातिपरक शक्तियों को सम्बल मिल रहा है। किसी महान् व्यक्ति के नाम पर कोई जनता कालेज या किसान स्कूल खुले तो कोई बात भी है क्योंकि किसान किसी जाति का नाम नहीं है। हिन्दू, मुस्लिम, सिख और अन्य धर्मों के लोग खेती करते हैं और पिछड़ी जातियों के लोग कृषि मज़दूर के रूप में काम करते हैं। किसी जातिविशेष के नाम पर खोली गई संस्था सदा सामाजिक तनावों को बल देती है। इन बातों से भारत का समाज बड़ी हानि उठा चुका है।

सभी निर्धन और दलित लोगों को, चाहे वे किसी भी जाति के क्यों न हों, अपनी स्थिति सुधारने के लिए एक शान्तिपूर्ण सामाजिक क्रान्ति का सूत्रपात करना चाहिए। मैंने सदा हिंसा या खूनखराबे से परिपूर्ण क्रान्ति की निंदा की है। रूस, चीन या बर्मा की तुलना में हमारी सामाजिक व्यवस्था और परिस्थितियां भिन्न हैं। हमारा विश्वास लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण में है। परन्तु जातिवाद और जातिगत भावनाओं के कारण हमारी सामाजिक और आर्थिक प्रगति में बाधा पड़ रही है। जाति के आधार पर हरिजन लोग कोई निर्णय करेंगे तो उन्हें कोई लाभ नहीं होगा क्योंकि जातिवाद का शिकार केवल हरिजन ही नहीं है। सामाजिक दृष्टि से पिछड़े हुए वर्ग, जिन्हें शूद्र कहा जाता है, अन्याय का शिकार हो रहे हैं। जाटों, राजपूतों और गूजरों में वर्चस्व के प्रश्न को लेकर कोई तनाव नहीं है। गांव उनका आधार है और कृषि आजीविका का मुख्य साधन। किसान गरीब भी हैं और अमीर भी। अमीर ज़मींदार खाते-पीते लोग हैं और सारी शक्ति हथियाने पर तुले बैठे हैं। परन्तु निर्धन किसानों को भी कृषि मज़दूरों, भूमिहीनों, गांवों के गरीब कारीगरों और अपने अधिकारों से वंचित लोगों के समान सामाजिक और आर्थिक समृद्धि में भागीदार बनाना आवश्यक है। अमीर किसान अपनी ही जाति के उन गरीब लोगों से अनुचित लाभ उठाने की चेष्टा करते हैं जिनके पास थोड़ी-थोड़ी ज़मीनें हैं। समृद्ध किसान और प्रभावशाली ज़मींदार उनकी ज़मीन तक

छीन लेते हैं।

सरकार अकेली ही जातिवाद को निर्मूल नहीं कर सकती और न कानून पास करके ही ऐसा सम्भव है। जब तक लोग जातिवाद के गम्भीर खतरों को नहीं समझेंगे, सफलता की कोई आशा नहीं है। भारत और भारत का समाज तभी फल-फूल सकता है जब जातिवाद और छुआछूत को समाप्त कर दिया जाए। मैं समझता हूं कि समाज के इन असहाय वर्गों की दशा सुधर जाए तभी राष्ट्र में समृद्धि आ सकती है।

भारत के प्रत्येक राजनीतिक दल ने अपने लाभ के लिए हरिजनों को आकृष्ट करने की चेष्टा की है। देखना यह है कि राजनीतिक नेताओं ने अपने व्यक्तिगत जीवन में हरिजनों के लिए क्या कुछ किया है। क्या उन्होंने अपने बेटे-बेटियों के विवाह दूसरी जातियों में किए हैं या नहीं। अन्तर्जातीय विवाह को ऊंची जाति के लोग भी प्रोत्साहन दे सकते हैं। ऐसा पग उठाने वाले युवक-युवतियों को प्रोत्साहन देना चाहिए। यह बात अधिक अच्छी होगी कि कोई सवर्ण हिन्दू लड़की किसी हरिजन लड़के से ब्याह करे। यदि युवक-युवतियों को इस बात का विश्वास दिला दिया जाए कि इस प्रकार के विवाह करने पर समाज उनका हुक्का-पानी बन्द नहीं करेगा और आर्थिक दृष्टि से उनके प्रति कोई भेदभाव नहीं बरता जाएगा तो युवा पीढ़ी के बहुत से लोग इसके लिए तैयार हो जाएंगे। इस प्रक्रिया का सूत्रपात तो हो चुका है परन्तु क्या तथाकथित ऊंची जाति वालों और सुधारकों ने भी इस सम्बन्ध में कुछ किया है? आज हरिजन प्रतिक्रियावादी शक्तियों और रूढ़िवादी हिन्दू तत्वों के प्रति सजग हैं। मैं समझता हूं कि देश में हरिजनों की मुक्ति की प्रक्रिया का सूत्रपात हो चुका है।

9

उपसंहार

हिन्दू समाज की एक विशेषता यह है कि जाति व्यवस्था का प्रभाव इसके प्रत्येक कोने पर पड़ा है। बहुत-से छोटे-बड़े समूह हैं जिनकी प्रतिष्ठा और सामाजिक तथा आर्थिक कार्यकलाप पर उनका प्रभाव जाति पर आधारित है। किसी विशेष जाति में जन्म लेने से कोई व्यक्ति ऊंचा माना जा सकता है और इसी जाति-भेद ने करोड़ों व्यक्तियों पर दमन तथा अत्याचार को जन्म दिया है। ये असहाय लोग नीची जातियों के रहे हैं। शताब्दियों तक उन्हें सामाजिक समता, न्याय, नैतिक और आर्थिक प्रगति से वंचित रखा गया। उन्हें दासों के समान दवाकर रखा गया और बेगार ली गई।

जाति के सोपानतंत्र में सबसे ऊपर ब्राह्मण हैं जो अपने आपको बड़ा, ऊंचा और प्रतिष्ठित मानते हैं। जहां तक क्षत्रियों और वैश्यों का सम्बन्ध है, उन्हें भी आदर की दृष्टि से देखा जाता है और सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था में उनका भी ऊंचा स्थान है। प्रारम्भ से ही सारी भूमि, सम्पत्ति और सामाजिक प्रतिष्ठा इन्हीं तीन वर्णों के हाथ में रही और शीघ्र ही ये तीनों संगठित होकर एक शक्तिशाली गुट का रूप धारण कर गए। इनके विपरीत हाथ से श्रम करने वाली जातियों के लोगों और कारीगरों को नीचे दर्जे का और अलग माना गया। वैदिक काल के प्रारम्भ में आर्य और अनार्य दो ही वर्ग थे। आर्य लोग लड़ाकू लोग थे और उन्होंने बाहर से आकर भारत पर आक्रमण किया था। वे बड़े चतुर और युद्ध कला में प्रवीण लोग थे। सिन्धु घाटी के अनार्य अत्यन्त सभ्य और शान्तिप्रिय लोग थे। युगों से उन्होंने सामाजिक मेल-जोल की कला सीखी थी और बर्बरता या दमन के माध्यम से अन्य मानवों को गुलाम बनाने का रास्ता छोड़ चुके थे। लम्बे समय तक शान्ति के कारण वे युद्ध कला भूल चुके थे और उनके शस्त्र ज्ञान को जंग लग गया था। आर्यों ने इन निरीह भारतीयों पर आक्रमण किया

और सारी सिन्धु घाटी पर विजय पाकर और इन लोगों को बड़े पैमाने पर तलवार के घाट उतार कर आर्य वहीं बस गए और बचे-खुचे अनार्यों को दास बना लिया। भारत पर सबसे पहले आक्रमण के कारण दास बनाए गए अभागे लोगों को ही वैदिक काल में अछूतों की भूमिका निभानी पड़ी।

इन्हें नगा या दास की संज्ञा दे दी गई। इनमें से कुछ जातियों या समूहों को गिरा दिया गया। कुछ को घरेलू नौकर या दास बनाकर रखा गया। शक्तिशाली आर्य इनका व्यापार करते थे और इन्हें पशुओं के समान भेंट में एक दूसरे को देते थे। आर्यों ने सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार कुछ समय बाद शूद्रों को कुछ रियायतें भी दीं। विश्वास किया जाता है कि आर्य लगभग तीन हज़ार वर्ष ईसापूर्व भारत में आए। अनार्यों की पराजय के परिणामस्वरूप वर्ण व्यवस्था का प्रादुर्भाव हुआ। विजयी गर्वीले और आक्रान्त आर्यों ने लोगों को विभिन्न वर्गों में बांट दिया। ऐसे उदाहरण मिलते हैं जब किसी युद्ध में हारे हुए व्यक्ति को—वह आर्य था अथवा अनार्य—दास या शूद्र बना दिया गया। ये शूद्र निःसन्देह भारत के वे मूल निवासी थे जो आर्यों से पराजित हुए थे और जिनमें कुछ द्रविड़ भी थे।

प्रारंभिक युग में जाति या जन्म निर्णायक तत्व नहीं थे। जाति की कठोरता और जटिलता धीरे-धीरे बढ़ी। हम यह देखते हैं कि किसी व्यक्ति की जाति का निर्धारण उसके व्यवसाय के आधार पर होता था। कई ऐसे उदाहरण मिलते हैं जब किसी शूद्र ने अपनी वृत्ति बदलकर ब्राह्मण जाति में प्रवेश किया। आर्य लोग न केवल शक्तिशाली थे बल्कि संगठित भी थे। उन्होंने स्वामी तथा शासक होने के नाते शूद्रों या दासों का दमन किया और उन्हें समाज के जीवन से बहिष्कृत कर दिया। इस काल में कोई भी व्यक्ति अपना व्यवसाय बदल कर अपनी जाति नहीं बदल सकता था। जाति व्यवस्था की परिभाषा इस ढंग से की गई कि सेवा करने वाली जातियां और कारीगर बहुत समय तक अपना सिर नहीं उठा सके। ब्राह्मणों, उपनिषदों और सूत्रों के युग में वर्ण व्यवस्था एक स्थायी सामाजिक धुरी बन गई। शूद्रों का सामाजिक जीवन अत्यन्त कष्टप्रद हो गया। जबकि द्विजों अर्थात् ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों के अधिकार और विशेषाधिकार स्थायी बन गए। रामायण और महाभारत के काल तक यह दशा हो गई कि शूद्र धन कमाने, सम्पत्ति का स्वामी बनने, शिक्षा प्राप्त करने बल्कि धार्मिक कर्मकाण्ड के अधिकारों से भी वंचित कर दिए गए। इसमें सन्देह नहीं कि इस व्यवस्था का विधान तो ब्राह्मणों ने ही किया जबकि उसे लागू करने वाले क्षत्रिय शासक थे। इस प्रकार वैदिक काल से लेकर स्मृतियों और शास्त्रों के काल तक समाज जातियों और उपजातियों में बंट गया। नीची जातियों अर्थात् शूद्रों के बारे में

खान-पान, आचरण, सामाजिक प्रतिष्ठा, विवाह और काम के सम्बन्ध में उनके अधिकारों का विधान कर दिया गया और यह बता दिया गया कि वह कौन-सा काम कर सकते हैं और कौन-सा नहीं। जाति व्यवस्था में सर्वोच्च स्थान तो ब्राह्मणों को प्राप्त था और उनके कर्त्तव्य तथा अधिकार अक्षुण्ण थे। क्षत्रियों और वैश्यों के बारे में भी ऐसा ही किया गया। शूद्रों को सदा के लिए विभाजित कर दिया गया और उनमें घृणा तथा फूट के बीज इतनी चतुराई से बोए गए कि वे समाज में कभी मिल-जुल कर या इकट्ठे काम न कर सकें। इसके अतिरिक्त वर्ण व्यवस्था में खान-पान और आचरण का विधान इस प्रकार किया गया कि ऊंच और नीच के बारे में एक नई विचार-धारा ने जन्म लिया। कुछ समय बाद नीची जातियों में उत्पन्न होने वाले व्यक्तियों को भृत्य या अर्धदास माना जाने लगा और उन्हें सामाजिक न्याय से वंचित कर दिया गया।

वैदिक युग के बाद के काल में कई ऐसे उदाहरण मिलते हैं जब कुछ व्यक्तियों ने जाति प्रथा के अन्यायों के विरुद्ध समाज में विद्रोह का सूत्रपात किया। इस प्रकार विद्रोह का आह्वान करने वालों में शूद्र भी थे और अन्य जातियों के लोग भी। कुछ क्षत्रियों ने भी जाति प्रथा की कठोरता का विरोध किया और सामाजिक संगठन में उदारता लाने की बात कही। ऐसे विचारक और समाज सुधारकों ने जाति व्यवस्था की निंदा की और इस बात पर बल दिया कि सब मानव बराबर हैं। उनका कहना था कि ईश्वर की दृष्टि में कोई भी व्यक्ति किसी जाति विशेष में उत्पन्न होने के कारण ऊंचा या नीचा नहीं होता। क्षत्रियों ने उपनिषदों की रचना की और यह प्रमाणित कर दिया कि ब्राह्मण का वर्चस्व शूद्रों के प्रति अन्याय और धोखाधड़ी के अतिरिक्त कुछ नहीं। इसका कारण कुछ अंश तक तो यह था कि क्षत्रिय सत्ताप्राप्ति के लिए ब्राह्मणों से होड़ कर रहे थे और वे किसी भी जाति के हाथ में सत्ता नहीं देना चाहते थे। क्योंकि वह अपने को ऊंचा समझती थी। उपनिषदों में जन्म की बजाय कर्म के महत्त्व पर बल दिया गया है। वज्र सूची उपनिषद में उच्च कोटि के कई ऋषियों का वर्णन आता है। जैसे शृंगी ऋषि, कौशिक, गौतम, वाल्मीकि, व्यास, पराशर, वशिष्ठ, विश्वामित्र, अगस्त्य, माण्डव्य, मातंग, भरद्वाज और नारद जो ब्राह्मण नहीं थे परन्तु उन्हें अपने गुणों और कर्म के कारण ब्राह्मण माना जाता था।

पुराणों में भी गुण और कर्म के सिद्धान्त का तो समर्थन किया गया है पर इस बात का नहीं कि ऊंची जाति में जन्म लेने मात्र से कोई व्यक्ति ऊंचा हो जाता है। भविष्यपुराण में कहा गया है कि जाति या वर्ण के आधार पर कोई अन्तर नहीं पड़ता। शूद्र और ब्राह्मण दोनों ही यज्ञ कर सकते हैं। यह

कहा गया है कि आध्यात्मिक उपलब्धियों और धार्मिक कर्मकाण्ड में शूद्रों को भी वैसे ही अधिकार और सामाजिक विशेषाधिकार प्राप्त हैं जैसे कि द्विजों को। भविष्यपुराण में कहा गया है : "जातियों या समूहों के बीच कोई अन्तर नहीं है। विभेद न तो बाह्य है और न आन्तरिक, न सुख में, न दुख में, न स्वामित्व में और न दासता में, न वीरता में, न प्रकृति में, न ज्ञान में और न व्यवसाय में, न आयु में और न शरीर में, न दुर्बलता में और न शक्ति में, न मेधा में और न उसकी अनुपस्थिति में, न त्याग में और न किसी बड़े कार्य में, न औषधि में और न रोग में। ऐसा लगता है कि पौराणिक युग में वर्ण व्यवस्था बहुत लचीली थी।

जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूं, उपनिषदों के रचयिता ब्राह्मण नहीं थे। इन विद्वानों ने ब्राह्मणों द्वारा बनाई गई वर्ण व्यवस्था की कठोरता और जटिलता का विरोध किया क्योंकि इसका आधार यह था कि कोई व्यक्ति ऊंचे कुल में जन्म लेकर ही ऊंचा बन सकता है। यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय परस्पर संघर्षरत थे और अपना-अपना सामाजिक और बौद्धिक वर्चस्व स्थापित करने की चेष्टा कर रहे थे।

वैदिक काल के अन्त में जाति व्यवस्था में और अधिक कठोरता आ गई थी। उस युग में शूद्र को जब चाहे दबाया जा सकता था। जाति बदलना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो गया था। ऊंची जातियों के व्यक्ति नीची जातियों में विवाह कर सकते थे परन्तु उन्हें शूद्रों के साथ विवाह की अनुमति नहीं थी। समाज में कारीगरों और श्रमिकों का स्थान गिरता जा रहा था। मूल निवासी कबीलों के आर्य समाज का अंग बन जाने के साथ शूद्रों की संख्या में लगातार वृद्धि हो रही थी।

बुद्ध मत और जैन धर्म ने ब्राह्मणों के वर्चस्व और उन द्वारा बनाई गई सामाजिक व्यवस्था का विरोध किया। गौतम बुद्ध और महावीर दोनों का यह कहना था कि पुरुष और स्त्री बराबर हैं। वे दोनों सामाजिक जीवन में सरलता लाने के पक्ष में थे। और कर्मकाण्ड तथा वर्णव्यवस्था के कठोर विधान की दोनों ने निंदा की। समाज से च्युत स्त्रियां, दलित वर्ग के लोग और सामान्य जन इन मतों की ओर आकृष्ट हुए क्योंकि इनके सिद्धांत उनके लिए बोधगम्य थे। मानवता के लिए भगवान बुद्ध का सन्देश इतना आकर्षक था कि यह सारे संसार में फैल गया। और कहा जाता है कि कई वर्ष तक भारत में ब्राह्मणों का वर्चस्व समाप्त हो गया। गौतम बुद्ध के महाप्रयाण के बाद ब्राह्मणों ने फिर सिर उठाया और पहली स्थिति में आ गए। उन्होंने बुद्ध मत का उपहास किया और बौद्धों को समाज में निकृष्ट समझा जाने लगा। इस सम्बन्ध में इतिहास में कई उदाहरण मिलते हैं कि बुद्ध मत के ह्रास के

बाद बौद्धों को कितनी यातनाएं दी गईं। सूत्रों का उदय बौद्ध और जैन साहित्य और उनकी विचारधाराओं के प्रति एक प्रतिक्रिया मात्र था। नये सिरे से वर्णों, आश्रमों और कर्मकाण्ड का बोलवाला हो गया। वास्तव में यह प्रतिक्रियावादी ब्राह्मण शक्तियों की विजय थी जो निहित जागीरदारी स्वार्थों के सहयोग से फिर समाज पर छा गई।

अठारहवीं शताब्दी तक वर्ण व्यवस्था ने लोगों के आर्थिक जीवन में बहुत हस्तक्षेप किया था। सामाजिक ढांचा वर्ण व्यवस्था पर ही बना था और जन-जीवन पर इसकी गहरी छाप पड़ गई थी। भारत में योरुप के आक्रान्ताओं के पदार्पण और बाद में राष्ट्रवादी आन्दोलन के सूत्रपात से सामाजिक जागृति आई और इसने खूब ज़ोर पकड़ा। समाज का इतिहास इस बात का साक्षी है कि मुसलमान या ब्रिटिश शासकों ने हमारी वर्ण व्यवस्था में हस्तक्षेप नहीं किया, सिवाय इसके कि दोनों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से लोगों को अपना धर्म परिवर्तित करने का प्रोत्साहन दिया। बंगाल में राजा राममोहन राय, उत्तर भारत में स्वामी दयानंद सरस्वती, दक्षिण में डाक्टर एनी बेसैंट और मध्य भारत में महात्मा फुले ने सामाजिक जागृति का समारंभ किया। आर्य समाज, ब्रह्म समाज, ब्रह्म विद्या समाज (थियोसोफिल सोसायटी), दलित वर्ग संघ और कुछ अन्य सामाजिक संगठनों ने इन जातियों की दशा सुधारने के लिए आन्दोलन प्रारम्भ किए।

यहां पर मैं वह इतिहास नहीं दोहराऊंगा कि मुगलों ने जिस महान् साम्राज्य की नींव डाली थी उसकी इतिश्री कैसे हुई। छोटे बड़े नवाब और हिन्दू राजा या तो समाप्त हो गए और या उन्होंने 1857 के बाद अंग्रेज़ों के आगे हथियार डाल दिए, तब तथाकथित विद्रोह—वास्तव में भारत का पहला स्वतंत्रता संग्राम—विफल हुआ। अन्ततोगत्वा अंग्रेज़ों ने सत्ता हथिया ली और सारे देश पर उनका शासन स्थापित हो गया। प्रशासनिक प्रयोजनों के लिए उन्होंने भारतीय जनता के सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक जीवन के बारे में जानकारी और आंकड़े इकट्ठे किए। 1870 के बाद से, प्रत्येक दस वर्ष बाद जनगणना की जाने लगी और सर्वेक्षण के माध्यम से और घर-घर जाकर लाभदायक जानकारी इकट्ठी की गई। यह काम आज भी, लेकिन पहले से बड़े पैमाने पर और विधिवत् किया जा रहा है।

1909 में जब लार्ड मिण्टो भारत के वायसराय थे, आगा खां के नेतृत्व में मुसलमानों ने यह मांग की कि उन्हें राजनीतिक पदों और सरकारी नौकरियों में अधिक प्रतिनिधित्व दिया जाए। मुसलमानों का दावा था कि 1901 की जनगणना के अनुसार उनकी जनसंख्या 6.2 करोड़ अर्थात् भारत की कुल जनसंख्या का पांचवां या चौथा भाग है। उनका कहना था कि जन-

जातियां और छोटे-छोटे मत-मतान्तरों के अनुयायी और कुछ अन्य जातियां यद्यपि हिन्दू नहीं हैं लेकिन हिन्दुओं में गिनी जाती हैं और इस कारण हिन्दुओं की संख्या का अनुमान लगाते समय इन वर्गों और जातियों को उनमें न गिना जाए। उनका इशारा निश्चित रूप से जनजातियों और अछूतों की ओर था। इस आधार पर मुसलमानों का यह दावा था कि उनकी संख्या हिन्दुओं से अधिक है। वायसराय के प्रशासन ने इस दावे को स्वीकार कर लिया और 1910 की जनगणना की रिपोर्ट में, पहली रिपोर्टों के विपरीत, हिन्दुओं को तीन वर्गों में विभाजित किया गया : (1) हिन्दू; (2) जनजातियां; और (3) दलित वर्ग।

1931 में ब्रिटिश सरकार ने यह कहा कि पिछड़ी और दलित जातियों के बारे में जानकारी प्राप्त करने के लिए आंकड़े इकट्ठे करने की ओर अधिक ध्यान दिया जाए जिससे कि वर्तमान में और भविष्य में उनके कल्याण की समस्या को भलीभांति समझा जा सके। भारत में जनगणना अधिकारियों को आदेश दिए गए कि ऐसी जातियों की सूची तैयार करें जिन्हें दलित वर्गों में सम्मिलित किया जा सके। सभी प्रान्तों से कहा गया कि वे अपने-अपने क्षेत्रों में ऐसी जातियों की सूचियां तैयार करें। बाद में जो आदेश दिए गए उनमें इस विषय पर प्रकाश डालते हुए कहा गया : "दलित वर्ग ऐसी जातियां हैं जिनके साथ छू जाने से सवर्ण हिन्दू अपने को अपवित्र मानते हैं। इस संज्ञा का प्रयोग किसी व्यवसाय के संदर्भ में नहीं है बल्कि ऐसी जातियों के संदर्भ में है जिन्हें हिन्दू समाज ने परंपरागत स्थान के कारण मन्दिरों में प्रवेश की अनुमति नहीं दी है, जिन्हें अलग कुओं से पानी लेना पड़ता है या पाठशाला के भवन में बैठकर नहीं बल्कि उसके बाहर खड़े रहकर शिक्षा प्राप्त करनी पड़ती है। इस प्रकार कि अनर्हताएं भारत के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न रूप से मौजूद हैं। दक्षिण में अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा इस प्रकार की भावनाएं अधिक हैं।"

जनगणना अधिकारियों ने यह आशा भी व्यक्त की कि : "सामाजिक और राजनीतिक कारणों से न केवल यह जानना आवश्यक है कि सारे भारत में ऐसे वर्गों की संख्या क्या है, बल्कि यह भी पता होना चाहिए कि अलग-अलग प्रांतों में उनकी कितनी संख्या है। इस बात का महत्त्व न केवल इन जातियों को राजनीतिक संगठनों में उचित प्रतिनिधित्व देने के सन्दर्भ में है बल्कि इस दृष्टि से भी इनका पता लगाना आवश्यक है कि कौन से ऐसे सामाजिक कार्य किए जाएं जिनसे इनका पिछड़ापन समाप्त हो और इन्हें समाज के अधिक उन्नत समूहों के बराबर लाया जा सके।" ये उद्देश्य तो प्रशंसनीय थे परन्तु इसके बावजूद विदेशी शासक कई आर्थिक या राजनीतिक कारणों से दलित

और शोषित वर्गों के बारे में अपने मंतव्यों को कार्य रूप में परिणत नहीं कर सके।

यहां इस बात का उल्लेख करना असंगत न होगा कि 1931 में भारत के जनगणना आयुक्त डाक्टर हटन ने भी कुछ परिस्थितियों और कसौटियों का सुझाव दिया था जिनके आधार पर दलित वर्ग में गिनी जाने वाली जातियों और समुदायों का निर्धारण किया जा सकता है। उनका कहना था कि निम्नलिखित तत्वों के आधार पर किसी जाति को दलित वर्गों की सूची में रखा जा सकता है :

(1) कोई जाति या वर्ग ऐसा है या नहीं जिसे ब्राह्मण अशुद्ध न मानते हों और उसकी सेवा करने के लिए तैयार हों।

(2) उस जाति या वर्ग की सेवा वही नाई, कहार या दर्जी कर सकते हैं या नहीं जो बाकी हिन्दुओं की सेवा करते हों।

(3) उस जाति के साथ छू जाने से सवर्ण हिन्दू अपने को अपवित्र मानता है या नहीं।

(4) उस जाति या वर्ग के किसी सदस्य के हाथ से सवर्ण हिन्दू पानी पीने को तैयार है या नहीं।

(5) किसी जाति या वर्ग को सड़कों, नावों, कुओं और स्कूलों में जाने की अनुमति है या नहीं।

(6) किसी जाति या वर्ग को हिन्दू मन्दिरों में प्रवेश की अनुमति है या नहीं।

(7) सामाजिक मेल-मिलाप में किसी जाति या वर्ग के सुशिक्षित व्यक्ति को वैसे ही सुशिक्षित सवर्ण जाति के लोग अपने बराबर मानते हैं या नहीं।

(8) कोई जाति या वर्ग केवल अपने अज्ञान, अशिक्षा या निर्धनता के कारण पिछड़ा हुआ है या नहीं और यदि ऐसा न होता तो समाज में उसे नीचा न समझा जाता।

(9) कोई जाति अपने व्यवसाय के कारण दलित है या नहीं और यदि वह उस व्यवसाय में न होती तो उसे समाज में नीचा न माना जाता।

यद्यपि डाक्टर हटन ने लगभग आधी शताब्दी पहले ये कसौटियां बताई थीं पर आज भी किसी जाति को दलित या अनुसूचित जाति का मानने के लिए इन्हीं कसौटियों का सहारा लिया जाता है। आज भी सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से कुछ जातियों को निम्न स्थान प्राप्त हैं। उन्हें धार्मिक और नागरिकता की दृष्टि से हीन माना जाता है, शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़ापन व्याप्त है और सरकारी नौकरियों में उसका अनुपात कम है। अनुसूचित जातियों के अधिकतर लोग आज भी गरीबी की रेखा के नीचे रहते हैं। उन्हें लम्बे

समय तक देश के सामाजिक और आर्थिक जीवन की मुख्य धारा से अलग रखा गया है। ऊंची जातियों के सामाजिक बहिष्कार और शोषण के कारण उनकी मनोवृत्ति का विकास अवरुद्ध हो गया है और वे निर्धन हैं। अनुसूचित जातियों के लोग आज भी उन्हीं व्यवसायों में लगे हुए हैं जिनमें और किसी जाति के लोग नहीं आते और इस कारण उनकी आय बहुत कम है।

स्वतंत्रता के बाद इन जातियों के कल्याण और सामाजिक तथा आर्थिक विकास के कार्यक्रम बनाए गए और उन्हें कार्यरूप में परिणत भी किया गया परन्तु उसके परिणाम उतने उत्साहवर्धक नहीं हैं जितने कि होने चाहिए थे। कल्याणकारी कार्यक्रमों के कार्यरूप में परिणत किए जाने की गति बहुत धीमी है। यह काम नौकरशाही व्यवस्था को सौंपा गया था लेकिन उसने इसके लिए कोई उत्साह नहीं दिखाया। नौकरशाही में यह मनोवृत्ति रही है कि अपनी थोड़ी-सी सफलता का भी ढिंढोरा पीटा जाए और त्रुटियों तथा असफलताओं को छिपाया जाए। कोई योजना या कार्यक्रम कितना ही महत्त्वाकांक्षी या लाभप्रद क्यों न हो, यदि उसे ठीक ढंग से लागू नहीं किया जाएगा तो कोई प्रगति नहीं हो सकती। इस सम्बन्ध में स्वयंसेवी संगठनों ने जो काम किया है वह भी संतोषजनक नहीं है।

स्वतंत्रता के बाद राष्ट्र की अर्थव्यवस्था में काफी प्रगति हुई है। उत्पादन पहले की अपेक्षा बढ़ गया है और प्रति व्यक्ति उत्पादन भी अधिक है। परन्तु इस प्रगति का हमारे समाज के कमज़ोर वर्गों को कोई लाभ नहीं पहुंचा। वे आज तक अज्ञान और निर्धनता में डूबे हुए हैं और उन्हें चारों ओर से परेशान किया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि यह स्थिति लोकतंत्र समाजवाद और फिर धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्तों के लिए खतरे की सूचक है। मैं बहुधा कहा करता हूं कि यदि सम्पत्ति का समान बंटवारा न हो, सामाजिक न्याय न हो और जातपात और छुआछूत का बोलबाला रहे तो लोकतंत्र और समाजवाद की बात करना निरर्थक है। देश में हज़ारों कल्याण संस्थाएं हैं। सैकड़ों अखिल भारतीय संगठन हैं। स्वेच्छा से काम करने वाले सामाजिक संगठन हैं और दर्जनों राजनीतिक दल हैं, लेकिन मैं पूछता हूं कि इनमें से कितनों ने समाज से छुआछूत समाप्त करने की चेष्टा की है? आज भी दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों में हमें कम उन्नत देशों की श्रेणी में रखा जाता है। अमरीका, इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी और सोवियत रूस जैसे राष्ट्रों की तुलना में हम औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं। यदि पिछड़ी जातियों जैसी जनसंख्या, जो भारतीय जनसंख्या का बहुत बड़ा अंग है, वंचित और दलित रहती है, तो ऊंची जातियों की उपलब्धियां कितनी ही अधिक क्यों न हों, हमारा देश पिछड़ा हुआ ही कहलाएगा। इसका यह कारण भी है कि ऊंची जातियों और वर्गों की तुलना

में अनुसूचित जातियों और जनजातियों में ही वास्तविक पिछड़ापन देखने को मिलता है।

भारत एक कृषि प्रधान देश है। हमारी अधिकतर जनसंख्या गांवों में रहती है जहां छोटे-बड़े सभी प्रकार के किसान हैं। परन्तु ग्रामीण जनसंख्या का अधिकांश भाग भूमिहीन श्रमिक, जो शताब्दियों से शोषित रहे हैं और बन्धुआ श्रमिकों, बल्कि दासों जैसा जीवन व्यतीत कर रहे हैं। वैदिक काल के बाद से और श्रुतियों के युग से लेकर आज तक यही स्थिति बनी हुई है। भूमि का स्वामित्व कुछ शक्तिशाली जातियों के हाथ में है और कृषि भूमि का बहुत कम भाग अनुसूचित जातियों के हाथ में है। उनके गांवों में रहने वाले 95 प्रतिशत से अधिक लोग ज़मींदारों की दया पर निर्भर करते हैं और बहुत कम मज़दूरी लेकर खेतों में काम करने पर विवश होते हैं। यदि वे लोग उचित मज़दूरी की मांग करते हैं या समाज में अधिक अच्छा व्यवहार करने के लिए कहते हैं तो उनसे मार-पीट की जाती है। सैकड़ों ऐसी घटनाएं हुई हैं जब ज़मींदारों ने उन्हें यातनाएं दीं, उनपर गोलियां चलाईं और उनके झोंपड़े जला दिए।

फालतू भूमि और परती ज़मीन के बंटवारे जैसे भूमि सुधार के कार्यों का समुचित परिणाम नहीं निकला है और कई मामलों में स्थिति पहले की अपेक्षा बिगड़ गई है। हैरानी की बात यह है कि कई राज्यों में भूमि की सीमा बहुत अधिक रखी गई है और परिवार की परिभाषा इतनी संकीर्ण और अस्पष्ट है कि निर्धारित सीमा के अतिरिक्त कोई फालतू ज़मीन उपलब्ध नहीं है। इस-लिए जब तक भूमि की सीमा को कम नहीं किया जाएगा और परिवार की परिभाषा नहीं बदली जाएगी, समाज के कमज़ोर वर्गों में बांटने के लिए फालतू भूमि उपलब्ध नहीं होगी। कुछ राज्यों में अच्छा काम हुआ है परन्तु अभी बहुत काम करने को हैं। यदि भूमिहीन श्रमिकों को संगठित किया जाए तो उसके अच्छे परिणाम निकल सकते हैं। भारत एक लोकतंत्र है और लोक-तंत्र में संगठित हुए बिना कोई भी बात सम्भव नहीं है।

कुछ समय पहले यह विचार था कि सारी भूमि का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाए और उसे वास्तव में खेती करने वालों और कृषि मज़दूरों में बांट दिया जाए। यह भी विचार था कि गैर कृषक वर्गों का उन्मूलन कर दिया जाए। परन्तु यह विचार कार्यरूप में परिणत नहीं किया जा सका और यह दर्शनमात्र ही रहा। कुछ लोगों का कहना है कि कृषि पर बहुत अधिक निर्भरता व्यावहारिक नहीं है। तो फिर ये लोग कहां जाएंगे ? ग्रामोद्योगों और परंपरागत हस्तशिल्प को समुचित प्रोत्साहन नहीं दिया जा रहा। हथकरघा उद्योग पर भी मध्यमवर्ग और हिन्दुओं का एकाधिकार स्थापित हो गया है। और निर्धन वर्ग और

अधिक निर्भर हो गए हैं। लेकिन ज़रा सोचिए कि खादी आयोग पर किन लोगों का नियंत्रण है? हथकरघा वोर्डों और लघु उद्योग बोर्ड आदि किन लोगों के हाथ में हैं? वे लोग या तो ऊंची श्रेणी के सरकारी कर्मचारी हैं या प्रभावशाली वर्गों के सदस्य। जो लोग माल का वास्तव में उत्पादन करते हैं उन बेचारों को कोई लाभ नहीं पहुंच रहा। समाज के उन्नत वर्ग आज भी किसी न किसी प्रकार उनका शोषण कर रहे हैं। जब तक रोज़गार बढ़ाने की योजनाएं नहीं बनाई जातीं और उनमें कमज़ोर वर्गों को समुचित प्रतिनिधित्व नहीं दिया जाता तब तक लक्ष्यों की पूर्ति नहीं होगी और इन लोगों की दशा नहीं सुधरेगी। पंचवर्षीय योजनाओं में अरवों रुपया खर्च किया जा चुका है परन्तु किसीने भी वास्तविक स्थिति का सर्वेक्षण नहीं किया और निष्पक्ष रूप से प्रगति का मूल्यांकन नहीं हुआ है।

बड़े पैमाने पर औद्योगिक कार्यकलाप हमारे देश में बहुत समय बाद, सम्भवतः पहली पंचवर्षीय योजना के बाद प्रारम्भ हुआ। संगठित भारी उद्योगों के प्रसार और उनकी प्रगति पर अधिकाधिक ध्यान दिया गया। योजना वनाने वालों का विचार था कि पहली से लेकर पांचवीं पंचवर्षीय योजना तक के काल में भारी उद्योगों और संगठित औद्योगिक क्षेत्रों के माध्यम से वेरोज़गारी की समस्या हल हो जाएगी। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। इसका कारण कुछ तो यह है कि हमारी जनसंख्या बहुत अधिक है और उद्योगों में बहुत अधिक आधुनिक तत्व आ गए हैं और कुछ यह कि संगठित औद्योगिक क्षेत्रों में रोज़गार की क्षमता अधिक नहीं है। बड़े व्यापारिक घराने और एकाधिकारी संगठन पहले से अधिक समृद्ध हो गए हैं और उद्योगपतियों का एक नया वर्ग वन गया है जो सहायक उद्योगों में लगे हुए हैं। इन नए उद्योगपतियों ने इस बात की कभी चिंता नहीं की कि ग्रामीण और अर्द्धग्रामीण क्षेत्रों में कितनी अपार जनशक्ति उपलब्ध है। औद्योगिक प्रगति से लाभ उठाने वाले तकनीकी विशेषज्ञ, इंजीनियर, औद्योगिक प्रशिक्षण संस्थाओं से प्रशिक्षण प्राप्त कुशल श्रमिक ही हैं जबकि ग्रामीण समाज की अपार जनसंख्या वैसी की वैसी है। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि रोज़गार दिलाने के सम्वन्ध में अधिक यथार्थ-वादी और व्यावहारिक रवैया अपनाया जाए। उसके साथ ही सामाजिक सेवा की योजना भी तैयार की जाए।

वैंकों के राष्ट्रीयकरण का मुख्य उद्देश्य यह था कि बैंकों के धन का उपयोग जनसाधारण और विशेष रूप से समाज के कमज़ोर वर्गों और ग्रामीण जनता के आर्थिक कार्यकलाप के संवर्धन के लिए किया जाए। राष्ट्रीयकरण के वाद कुछ वर्ष तक अनुसूचित जातियों और जनजातियों को इस बात के लिए उत्साहित किया गया है कि वे बैंकों से ऋण लें। परन्तु कुछ ही समय

बाद यह काम बन्द हो गया। इसका कारण यह था कि ब्याज की दरें अधिक थीं। ऋण लेने के लिए जमानत देनी पड़ती थी और इसके अतिरिक्त और कई बाधाएं थीं। जब तक ब्याज की दरें घटा कर बहुत कम नहीं कर दी जातीं और ऋण लेने की प्रक्रिया को सरल नहीं बना दिया जाता, तब तक इन लोगों को विशेष लाभ नहीं होगा। मैंने कई बार यह कहा है कि अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लोग तब तक अपने पांवों पर खड़े नहीं हो सकते जब तक कि उन्हें उन्नति करने की सुविधाएं नहीं दी जाएंगी और एक अधिक अच्छा आर्थिक आधार तैयार नहीं किया जाएगा। लेकिन यह सहायता देगा कौन ? केवल सरकार, सरकार के निगम और उद्यम, बैंक और अन्य वित्तीय संस्थाएं इनका मार्गदर्शन कर सकती हैं और इन्हें फायदा दे सकती हैं। परन्तु यह देखा गया है कि निहित स्वार्थों ने आर्थिक कार्यकलाप पर एकाधिकार जमा रखा है और यह लोग अपनी आर्थिक दशा नहीं सुधार सकते।

सहकारी संगठन कमज़ोर वर्गों के लिए हैं परन्तु उनपर भी समृद्ध जातियों का वर्चस्व है। ये लोग उनसे पूरी तरह लाभ उठा रहे हैं और जो भी अनुदान तथा विकास सम्बन्धी रियायतें मिलती हैं, उन्हें स्वयं ही हड़प जाते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि सहकारिता पर आधारित उद्योगों में धनी जातियों के सदस्यों की सदस्यता पर रोक लगाई जाए। बहुत से सवर्ण हिन्दुओं ने चमड़े, मत्स्यपालन, हथकरघे आदि उद्योगों के लिए सहकारी समितियां बना ली हैं और खादी तथा ग्रामोद्योग सहकारी संगठनों पर उन्हीं का एकाधिकार है। यह इसके बावजूद है कि इन लोगों को कृषि, नौकरी, और व्यापार आदि जैसे जीवनयापन के माध्यम उपलब्ध हैं। इन जातियों के लोग शिक्षा की दृष्टि से उन्नत हैं और इनकी आर्थिक स्थिति भी सन्तोषजनक है इसलिए ये नियंत्रण रखने वाली सरकारी व्यवस्था से मिलकर अपना काम करा लेते हैं। मैं इस बात के विरुद्ध नहीं हूं कि धनी वर्ग सरकारी आन्दोलन में आए। परन्तु मेरा अभिप्राय यह है कि कमज़ोर वर्गों का हिस्सा न छीना जाए। मैं समझता हूं कि जब तक अनुसूचित जातियों और जनजातियो के लोग स्वयं आगे नहीं आएंगे तब तक स्थिति में सुधार नहीं होगा।

राज्य व्यापार निगम और अन्य संगठनों के माध्यम से सरकार द्वारा नियंत्रित व्यापार और आर्थिक कार्यकलाप में अनुसूचित जातियों और जन-जातियों का प्रवेश हुआ है। केन्द्रीय लोक निर्माण विभाग, राज्यों के लोक-निर्माण विभाग, बसों, खाद और कृमि-नाशक दवाइयों की एजेंसियों और तेल तथा गैस की एजेंसियों में इन जातियों का प्रवेश बहुत देर से हुआ है और प्रगति बहुत धीमी है। कानून पास किए जा चुके हैं, सरकार स्पष्ट रूप से आदेश जारी कर चुकी है परन्तु जिन संगठनों को इन्हें कार्यरूप में परिणत

करना है वही रोड़े अटकाते हैं।

मैंने सदा यह कहा है कि सुधारन्यास (इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट) और आवास बोर्ड नागरिक क्षेत्रों में सवर्णों और हरिजनों के लिए मिली-जुली बस्तियां बनाएं। बहुत से व्यक्ति जनता या मध्य आय समूहों के लिए बनाए गए मकान नहीं खरीद सकते क्योंकि उनके पास धन नहीं होता। हां, वेतनभोगियों की बात दूसरी है। ऐसे उदाहरण मिले हैं कि जनता और निचली आय वर्ग की योजनाओं के अन्तर्गत लोगों को मकान दिए गए तो वे उनकी कीमत समय पर नहीं दे पाए। इसलिए यह आवश्यक है कि उनसे किश्तों में पैसा लिया जाए या मकानों को बैंकों के पास बन्धक रखकर इन लोगों को मकान दिलाए जाएं। ग्रामीण क्षेत्रों में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लोग छोटी-छोटी झोंपड़ियों या कच्चे मकानों में रहते हैं। यह देखकर भी बड़ा दुख होता है कि इन जातियों के अधिकारियों को सामान्यतया बड़ी घटिया नौकरियों में रखा जाता है और घटिया स्थानों पर तैनात किया जाता है। यह काम करने वाले बड़े-बड़े सरकारी अधिकारी हैं। जो अधिकारी प्रशासन व्यवस्था में मध्यम स्तर पर हैं वे भी अपनी शक्ति का दुरुपयोग करके अनुसूचित जातियों और जनजातियों का शोषण करते हैं। जब ऐसे मामलों के बारे में प्रश्न पूछे जाते हैं तो ऊंचे अधिकारी या तो स्पष्ट उत्तर देते हैं या सच्चाई छिपा जाते हैं। जब तक सरकार इस बात की व्यवस्था नहीं करती कि जो लोग नौकरियों में आरक्षण सम्बन्धी आदेशों का पालन नहीं करने में आनाकानी करेंगे उन्हें दण्ड दिया जाएगा तब तक स्थिति में सुधार सम्भव नहीं है।

सरकारी सेवाओं में, आरक्षण के आदेशों के बावजूद, अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लोगों की भर्ती उत्साहजनक नहीं है। पिछले कुछ वर्षों में अनुसूचित जातियों और जनजातियां के कर्मचारियों की संख्या में आशानुकूल वृद्धि नहीं हुई। अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के आयुक्त के प्रतिवेदनों, विभिन्न सर्वेक्षणों और गोष्ठियों की कार्रवाइयों के वृत्तान्त से यह पता चलता है कि इन जातियों के प्रति समाज का रवैया कठोर होता जा रहा है। यह बड़े दुख की बात है। भारत सरकार, राज्य सरकारों, स्थानीय संगठनों, सरकारी क्षेत्र के उद्यमों और निगमों आदि में इन जातियों के लिए स्थान आरक्षित करने के आदेशों पर भलीभांति अमल नहीं किया जा रहा है।

० ० ०

मुद्रक : के० के० प्रिंटर्स, दिल्ली 21581

बाबू जगजीवनराम का जन्म 1908 में बिहार के चन्दवा गांव के एक निर्धन हरिजन परिवार में हुआ। उन्होंने बनारस और कलकत्ता विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त की।

सक्रिय राजनीतिज्ञ के रूप में बाबू जगजीवन राम 1937 में कांग्रेस की ओर से बिहार विधानसभा में आए। बाद में उनकी नियुक्ति संसदीय सचिव के रूप में हुई। 1939 में सत्याग्रह में भाग लेने के लिए उन्होंने बिहार के मंत्रिमण्डल से त्याग पत्र दे दिया। उसके बाद वे उन्नति के और ऊंचे शिखरों तक पहुंचे और आज भारत में अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के महानतम समर्थक माने जाते हैं। कांग्रेस दल में वे कई ऊंचे पदों पर रहे हैं और 1969 से 1971 तक कांग्रेस के अध्यक्ष रहे। अपने युवा काल में उन्होंने मज़दूर संगठनों और राष्ट्रवादी हरिजनों को संगठित किया। 1942 में उन्होंने भारत छोड़ो आन्दोलन में भी भाग लिया। 1946 में अस्थायी सरकार में हरिजनों के नेता के रूप में मंत्रिमण्डल में आए और उन्होंने श्रम मंत्री का पद संभाला। 1963 तक वे विभिन्न विभागों के मंत्री रहे और तब उन्होंने कामराज योजना के अन्तर्गत त्याग पत्र दिया। जनवरी, 1966 में वे फिर मंत्रिमण्डल के सदस्य बन गए और फरवरी 1977 तक मंत्री रहे।

मार्च, 1977 में उन्होंने कांग्रेस से पद त्याग करके लोकतांत्रिक कांग्रेस का गठन किया जो 1977 में लोकसभा के चुनावों के बाद जनता पार्टी में शामिल हो गई। वह मार्च, 77 से जुलाई, 79 तक प्रतिरक्षा मंत्री और जनवरी से जुलाई, 79 तक उप प्रधानमंत्री रहे। 1980 के चुनाव के बाद वे लोकसभा में विरोधी पक्ष में बैठते हैं।

राजनीति : इतिहास : सामयिक

जीवन के कुछ पृष्ठ : इन्दिरा गांधी	
भुट्टो ! फांसी के तख्ते से	
जम्मू-कश्मीर मुक्ति अभियान	ले० जनरल श
भारतीय संविधान में प्रधानमन्त्री की भूमिका	
वडौदा डायनामाइट षड़यंत्र	
इन्दिरा गांधी का पतन	
मेरी जेल डायरी	
भगतसिंह ! पत्र और दस्तावेज़	
मेरे क्रांतिकारी साथी	
प्रजातांत्रिक समाजवाद	
भारतीयकरण	बलराज मधोक
क्रांतिकारी ऋषी कार्ल मार्क्स	हरदयाल
योद्धा सन्यासी विवेकानन्द	हंसराज रहब्बर
सरदार पटेल	सेठ गोविन्ददास
देशरत्न राजेन्द्रप्रसाद	सेठ गोविन्दास
लालबहादुर शास्त्री	महावीर अधिकारी
राष्ट्रपति जाकिर हुसेन	ए०जी० नूरानी
छत्रपति शिवाजी ! कारागार से सिंहासन	गो०प० नेने
बंगला देश : स्वतन्त्रता के बाद	क्षितीश वेदालंकार
चढ़ते सूरज का देश	प्राणनाथ सेठ
इन्दिरा गांधी : बढ़ते कदम	खुशवन्तसिंह
राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ	नानाजी देशमुख
विश्वासघात	एल०के० अडवानी
भारत की विदेश नीति	अटलबिहारी वाजपेयी
चढ़ते सूरज का देश	प्राणनाथ सेठ
रत्नगर्भा भारत भूमि	भगवानसिंह
हिमालय के खानाबदोश	डा० श्यामसिंह शशि
जाति, वर्ग और व्यवसाय	डा० गोविन्द सदाशिव घुर्ये

राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली